पीया चाहे प्रेम-रस

(सामाजिक उपन्यास)

लेखक

रामानन्द शर्मा

प्रकाशक

श्रीमती श्रद्धादेवी

कन्याकुमारी प्रकाशन

सरायरोड, दुमका
संताल परगना
बिहार

"परमहंस-कुटीर" पुनास
पो० रानीटोला, दरभंगा
बिहार

जिन्हों ने

सहज सरल ममत्व से

मुझ-जैसे अनगिन नादानों का अमित

गरल-पान किया था;

जिन्हें

यह धृष्ट अपना 'नीलकण्ठ'

कहकर निश्चिन्त इठलाता फिरा था;

उन्हीं

देव-दुर्लभ मर्मज्ञ-मानस

'विश्व-वन्द्य बापू'

की

पुण्य-स्मृति में

सत्य की कल्पना और कल्पना का सत्य

यह

'पीया चाहे प्रेम-रस'

श्रद्धा-भक्ति-समेत

समर्पित

—लेखक

पीया चाहे प्रेम-रस

(सामाजिक उपन्यास)

एक दृष्टि

"पीया चाहे प्रेम-रस,
राखा चाहे मान ।
एक म्यान में दो खड़्ग—
देखा सुना न कान ॥"

दूसरी दृष्टि

"मान राखिबो माँगिबो,
पिय सों सहज सनेहु ।
तुलसी तीनों तब फबै—
जौं चातक मति लेहु ॥"

कुटिया की प्यास

सूखे सावन का वह असाधारण अशोभन महीना और आकुल बना ने वाली ऊमस-भरी उसकी वह मनहूस शाम।

समय सात के लगभग।

हवा एकदम गुम-सुम—जैसे कहीं जाकर बेखबर सो गई हो। नाना शकल-सूरतों में बनते-बिगड़ते बादलों से घिरा वह असूझ आसमान—जिसमें आँखें फाड़ने पर भी कोई टिम-टिम तारा नजर नहीं आए।

आस-पास के झाड़-झंखाड़ों पर अगोचर बैठी नित्य चहकने वाली परिन्दों की दुनिया भी आज जाने क्यों चुप। गाँव-घर के बेकार भूँकने वाले कुत्ते भी जाने किस भय से दम साधे हुए।

सारी प्रकृति यों नीरव और नीरस—जैसे किसी गहरी चिन्ता में निमग्न और निश्चेष्ट।

किन्तु, देखे तो कोई उधर—वहाँ, उस नहर के किनारे खड़े उस पुष्टांग दमकते मुखड़े को और उसकी अद्‌भुत हरकतों को—जिसे निसर्ग की ओर आँख उठाने की भी फुर्सत नहीं दीख रही है; और, जिसका अंग-अंग आज उन्मद उल्लास से ऐसा उमड़ रहा है—जैसे उसके मन-मन्दिर में पूनों का कोई नूतन चाँद उग रहा हो।

खेत के उस पार, राजपथ के नीचे, सूखी पड़ी कृष्णा-कुमारी के निर्जन तट पर कदली-कुंज के बीच उन्मन खड़ी, ताल-पत्रों से छाई उस चिर-उपेक्षित कुटिया को तो देखो—कैसी उमंग-तरंग उठ रही है आज उसके साफ-सुथरे आँगन में!

क्या स्वर्ग की कोई भूली-भटकी किरण उतर रही है इस निर्जन निकुंज में आज रैन-बसेरा करने? बहुत दिन से स्वच्छन्द बढ़ी घास-पात और मन-चले लता-गुल्म के कारण जो झोपड़ी जीर्ण-शीर्ण दीखती थी—देखो, आज कैसी नई-

नवेली बन गई है। घर-आँगन झाड़-बुहार कर लीप-पोत दिए गए हैं। अर्से से टूटा-भाँगा बाँस का वह घेरा आज चुरत-दुरुस्त दीखता है। सामने वाला वह फाटक जो हमेशा लड़खड़ाता रहता था, आज कमर पकड़ कर खड़ा हो गया है और आम-अशोक के कोमल पल्लवों से ऐसा सज-धज गया है—जैसे किसी के स्वागत की पुलकित प्रतीक्षा कर रहा हो।

बराबर से बेतरतीब बढ़ने वाली उन कुसुम-क्यारियों को तो कोई देखे—कट-छँट कर, धुल-पुँछ कर कैसी चटकीली-मटकीली नजर आती हैं, जैसे किसी के साथ गल-बाँही करने को तैयार हों।

कुटिया के कोने में झाँक लो—अलगनी पर कुछ कपड़े करीने से लटक रहे हैं, कोने में जल से भरा मिट्टी का नया घट है, चमचमाते कुछ बर्तन हैं, एक छोटी चौकी पर कुछ किताबें सजी हैं।

वह खाट जो ढीली-ढाली रहती थी, आज उसकी रस्सी कस दी गई है और वह ऐसी तन गई है—जैसे अब किसी को सहर्ष झुलाएगी अपनी गोद में। सफेद दरी-चादर उसके उल्लास को दुगुना करती जान पड़ती है।

कुटिया का संकल्प है कि अपने अतिथि को आज वह खास खाना खिलाएगी। इसलिए गेहूँ का आटा गूँथा गया है, हरी तरकारी तोड़ ली गई है और अँगीठी में लकड़ी का कोयला भर दिया गया है। संभवतः फुलके सेंके जाएँगे।

बार-बार आकुल-सा कोई कुटिया के अन्दर घुसता है और खोया-खोया निकल आता है। उसके सहज प्रसन्न मुख-मण्डल पर हलकी झुँझलाहट झलक उठती है, जो इंगितों में बता जाती है— इस कुटिया का खास खाना तो है मधु-रस-सा लसीला पायस, जो खट्टी इमली और तीखी मिर्च के रस-रसिकों को रुचने से रहा!

यह रुचि-भेद उसके अन्तर में अखरता है अवश्य, पर उसकी उमंग पर उभरता नहीं।

लपक कर घुस जाता है कँटीली क्यारी में, तोड़ लाता है लावण्य-लोक के ललाम लोचनों-से गुलाब के कुछ उत्फुल्ल फूल। फिर मोद-मग्न हो गूँथने लग जाता है उन्हें एक पतले धवल धागे में— जैसे अपने सुनहले सपनों को ही समेट रहा हो।

देखते-देखते एक गर्वीला गजरा झूलने लग जाता है उसकी सिहरती उँग-लियों में जिसे निरखता-परखता उन्मत्त-सा उछल पड़ता है उस अन्ध-तमस में—जैसे प्रत्यंचे पर चढ़ा कोई एकाकी तीर उड़ा चला जा रहा हो गहन गगन के अन्तर्लोक में।

प्रतीत होता है— उस प्रफुल्ल पुष्प-पाश में फँसकर नील नभ की कोई चन्द्र-किरण अवश्य उतर आएगी इस कंटकित कुटिया में।

स्टेशन पर पहुँचने के सुगम-अगम कई रास्ते हैं, पर आज वह ठीक नाक की सीध में चल रहा है। लगता है—उसका स्वर्ग चार अंगुल पर ही हो और चन्द्रलोक का सुधा-घट उसके चिर-पिपासाकुल मुख में उलटने ही वाला है।

कैसी पागल प्यास पछाड़ खा रही है आज इसके दुर्धर प्राणों में और किस अटल विश्वास के साथ हाथ बढ़ाए चला जा रहा है वह उस आकाश-कुसुम की ओर— जैसे वह उसे तोड़कर ही साँस लेगा।

हाथ को हाथ नहीं सूझ रहा है—ऐसा घनान्धकार छाया है चारों ओर; फिर भी जैसे अन्तर से कोई तेज विद्युत्-प्रकाश भर रहा हो उसके अन्ध नयनों में।

ठोकरें खाता है, गिरता-पड़ता है, खंदक-खाई को लाँघता-फाँदता है, कुश-कंटकों से उलझता है, परन्तु रुकता कहीं नहीं है। अन्ध है, उन्मद है, दुर्बल-देह है, किन्तु जीवट की बलिहारी है- किसी विघ्न-बाधा की परवा नहीं है आज उसको। नशा है, निशा है, स्मृति है, विस्मृति है, परन्तु आगे-आगे जैसे कोई सुवर्ण मृग चौकड़ी भरता लुभाए चला जा रहा हो उसे मायामय लोक में।

प्लैटफार्म पर पहुँच कर ही पागल देख पाता है कि वह पसीने से लथ-पथ है, हाँफ रहा है, चप्पल टूट गई है और हाथ-पाँव से यत्र-तत्र लाल-लाल कुछ तरल निकल रहा है। लेकिन उसका ध्यान जाता है पहले उस लाल गजरे पर और उसे अक्षत देखकर देह की सुधि भूल जाता है—पूजा की सामग्री तो सुरक्षित आ गई!

'तरुण' का वह सन्तोष-सुख देखने लायक था!

चापा-कल के पास जाकर उसने हाथ-पाँव धोए और फिर पुनीत मन से उस गजरे का अभिषेक किया—जैसे कोई अर्चना की तैयारी कर रहा हो। फिर उस ढुल-मुल फूल-माल को चंचल चितवन से देखता—दिखाता धुँधले प्लैटफार्म पर वह लघु लोल ज्योतिरिंगन की तरह फुदकने लग गया।

गाड़ी आने में अभी घंटे-डेढ़-घंटे की देर थी— क्योंकि मद्रास-मेल का मस्त इंजन कहीं दूर के जंकशन पर जाने क्यों पटरी पर से उतर पड़ा था।

यह समाचार सुनते ही दूसरे मुसाफिरों की क्या दशा हुई, वह तो वे ही जानें, लेकिन गजरे वाले का दिल तो ऐसा दहला कि वह तड़प उठा और उसके मुंह से बरबस निकल पड़ा— 'प्रभु, फर्स्ट क्लास तो सुरक्षित है...'

उस दुर्बल मानव की दृष्टि में आज मद्रास-मेल जैसे केवल उस फर्स्टक्लास को ही लेकर चल पड़ी है—और कोई डब्बा उसमें जैसे जुड़ा ही नहीं ! उसी फर्स्ट-क्लास में शायद उसका स्वर्ग चला आ रहा था सातवें आसमान से उतर कर।

'तरुण' का समस्त अस्तित्व, उसका समस्त सुनहला स्वप्न आज उसी में समाया हुआ था।

प्लैटफार्म पर बाबा आदम के जमाने वाली दो-चार शीशेदार लैम्प इधर-उधर झिलमिला रही थीं—जिनके झिलमिल प्रकाश में जाना-पहचाना चेहरा भी कुछ अटपटा दीखने लग जाता था। गनीमत यही थी कि गजरे वाले के सामने वैसा कोई चेहरा नहीं था। वह इस ओर से नितान्त निश्चिन्त भी था।

और, आज तो वह कुछ उन्माद-ग्रस्त भी हो रहा था। गजरे की गंध और उसकी शकल-सूरत उसे और पागल बना रही थी। समवेत जन-समागम में किसकी दृष्टि उस पर है, कौन उसे घूर रहा है, कौन कनखियों में मुसकुरा रहा है, कौन चुटकी ले रहा है, कौन शरारत से सुसकारी भर रहा है—यह समस्या उसके सामने जैसे थी ही नहीं।

एक ओर अंधकार, दूसरी ओर धुँधला प्रकाश, एक ओर अपनी मद-मस्ती, दूसरी तरफ दूसरों की बेहोशी—सब मिलकर उस 'तरुण' को और भी निश्चिन्त किए हुए थे।

हाँ, कभी-कभी आँख वाला वह सत्पुरुष डॉक्टर अवश्य उसकी आँखों में चमक उठता था— जो जाने क्यों उसे निर्मल श्रद्धा की दृष्टि से देखता था और जिसके प्रति वह भी आन्तरिक आदर का भाव रखता आया था।

डर था तो केवल उसी नेत्र-चिकित्सक का—जिसकी तेज नजर रोगी के धूमिल नेत्रों को पार कर उनके अन्तर में भी झाँक लेती थी। गजरे वाला केवल उसी की नजरों से अपने को बचाना चाहता था।

लेकिन वह सूक्ष्म आँख वाला तो अभी अपने मरीजों को लेकर प्रार्थना और प्रवचन में तन्मय होगा।

इस विश्वास के बल पर गजरे वाला स्टेशन पर निधड़क घूम रहा था गर्वीले गजरे को निहारता और चमकीली चितवन की चाँदनी में उसे नहलाता, दुलराता और हौले-हौले हलराता ...

हठात् पूरब वाली गाड़ी के आने की घंटी टन्टन् कर उठी और दूसरी ओर भीड़ के बीच से हल्ला हुआ—'गिरह-कट !... गिरह-कट !!...'

उत्सुकता और कुतूहल इतना बढ़ा कि लोग अपने सामान को भी छोड़कर गिरह-कट को देखने दौड़ पड़े।

गजरे वाले के पास तो वैसा कोई सामान था नहीं—जो कुछ अनमोल था, उसकी कलाई में ही लिपटा था। अतः उत्सुक लापरवाही से लपकता हुआ वह भी उस हो-हल्ले में शामिल हो गया—जो दो भले आदमियों को घेर कर धक्कम-धुक्की कर रहा था।

चोर, उचक्का, गिरह-कट, डाकू आदि शब्द हवा में उड़ते ही साधारण आदमी भी ऐसा अजूबा बन जाता है कि लोगों के नयन तीव्र प्यासे हो जाते हैं— कौन है ... कैसा है ... कहाँ है...?

रेल-पेल ऐसी बढ़ी कि लोग उन दोनों दर्शनीयों पर गिरने लगे।

आधुनिक वेश-भूषा में दोनों किसी कालेज के नौनिहाल मालूम होते थे जो एक दूसरे का हाथ पकड़ कर खींच-तान कर रहे थे।

दोनों में एक कुछ दुबला-पतला और दूसरा तगड़ा जान पड़ता था। तगड़े ने दुबले की कलाई कसके पकड़ रखी थी और वही चिल्ला भी रहा था :

'गिरह–कट ! ... गिरह–कट !! ...'

दुबला-पतला बड़ी सफाई से आँखें चमकाता कह रहा था :

'मैं गिरह-कट नहीं हूँ। आप लोग जरा मुझे गौर से देखें ...'

भीड़ ने सचमुच उसे गौर से देखा—सूट-बूट के ऊपर सफेद बुश-शर्ट और उस पर झूलती काली टाई, कलाई में चमकीली घड़ी और उँगलियों में सोने की नग जड़ी दो-दो अँगूठियाँ। हाँ, रंग कुछ साँवला।

लेकिन जिसकी जेब उसने साफ़ की थी, वह भला आदमी मजबूती से

उसकी कलाई पकड़े मुसकुरा रहा था :

'दर्शन कर लीजिए इन महात्मा का—सारा पाप-ताप टल जाएगा। साथ में जो कुछ माया-जाल है, वह भी चल देगा इन्हीं के साथ। देखने में ही अपटुडेट हैं—अन्तर से तो हिमालय के महात्मा ही जान पड़ते हैं।... हाँ, चोर है तो इनका यह बेकहा हाथ—जो मेरे हाथ में है; और, जिसमें आप मेरी वह कलम देख रहे हैं।'

भीड़ भौंचक थी– कभी गौर से उस साँवले को देखती थी तो कभी उस गोरे और गठीले को देख कर दंग रह जाती थी।

सफेद लुंगी, चप्पल, कुरता और चादर के कारण सचमुच वह कोई नर-नायक ही जान पड़ता था।

इतने में चंचल चक्षुओं से देखता वह अपटुडेट बोला :

"भाइयो—इनका कहना सही है। कलम ठीक मैंने इनकी जेब से निकाली है, पर मैं गिरह-कट नहीं हूँ—यह कलम मेरी है ...'

भीड़ अब भारी चक्कर में पड़ गई। सबके मुँह पर एक कुटिल मुसकुराहट दौड़ पड़ी और लोग साँवले की बात सुनने को उद्ग्रीव हो उठे।

अपटुडेट इतमीनान से कहने लगा :

'वाकया यह हुआ कि गाड़ी की घंटी बजते ही मुझे एक ऐसी बात याद आ गई जिसे नोट कर लेना जरूरी जान पड़ा। मेरा हाथ सहज ही मेरी जेब पर चला गया, पर जब ख़ाली लौट आया, तब घबराकर मैं ने इधर-उधर देखा। यही महाशय मेरे आगे पीठ फेरकर खड़े थे और इन्हीं की जेब में मेरी कलम चमक रही थी।—बस, झपट कर वह कलम मैंने निकाल ली। अब आप ही फैसला करें कि गिरह-कट कौन...'

अपटुडेट की बात पूरी भी न हुई थी कि हड़हड़ाती-गड़गड़ाती गाड़ी आ पहुँची और भौंचक भीड़ अनिच्छा-पूर्वक तितर-बितर हो गई।

गजरे वाला भी वहाँ से टला, पर उसका मन मुर्झाया था और पाँव बेड़ियों में जकड़े जान पड़ते थे।

रह-रह कर उसके अन्दर से कोई बोल उठता था—क्या वह भी एक अनचीन्हा गिरह-कट नहीं है ?

सावन की ऊमस बढ़ती ही जा रही थी। घबराई घन-घटा घिर-घहर कर धरती पर उतर आई थी। दूर-दूर के हर-भरे करंज के पत्तों-पत्तों पर और लाइन के दोनों ओर की गंदी नालियों में लघु-लोल जुगनुओं की जमात तम-प्रकाश का मनहर खेल दिखा रही थी।

सर्वत्र नीरवता और नीरसता का राज्य था। कभी-कभी दूर-दूर की झाड़ियों से अगम-अगोचर गीदड़ हुआ-हुआ कर उठते थे—जिसके कारण गाँव के लापरवाह कुत्ते भी सोते से चौंककर बेतरह भूँकने लग जाते थे।

ये अवांछित स्वर चिन्ता-परायणों को और अन्य-मनस्क बना देते थे—जैसे भारी अपशकुन हों।

गजरे वाले का बैलून-सा उभरा तन-मन गिरह-कट के उस दुर्गम दृश्य से जाने क्यों पिचकता चला जा रहा था। वह गिरह-कट उसी के अन्तर में घुसता जान पड़ता था। एक भीति, एक ग्लानि, एक चिन्ता चुभ रही थी—जैसे यह अन-जान जगत् उसे कुछ-कुछ पहचानने लग गया हो।

मद्रास-मेल के आने में अब भी कुछ देर थी। इधर धरती और आसमान के बीच दौड़ती दमघोंट ऊमस की बेचैनी लोगों को बेतरह तड़पा रही थी। लगता था—वर्षा होगी, पर जाने क्यों चुचुआ कर भी रुक-रुक जाती थी।

उधर गिरह-कट को चुपचाप हृदय के कोने में छिपाए गजरे वाला उदास भाव से प्लेटफार्म पर चहल-कदमी कर रहा था। वह चाहता था कि गिरहकट उसके मन से निकल जाए और यह गजरा डोलता-बोलता रहे। लेकिन परिणाम हो रहा था उलटा—गिरह-कट चिकोटी काट-काट कर चुहुल कर रहा था और गजरा मुँह लटकाए था—जैसे वह कह रहा हो :

'जिसे तुम इतना अनमोल समझ रहे थे, जिसके रूप-गुण-गन्ध पर तुम कुछ क्षण पहले इतना उछल रहे थे, कल सबेरे वह कूड़े पर फेंक दिया जाएगा — यही तो है तुम्हारी यह अनुपम प्रीति-भेंट ...'

'हीरा-मोती जिसके कानों में सकुचे-सहमे रहते हैं, सोने की सिकड़ी जिसके उभरे वक्ष पर बिलखती रहती है, नग-जड़ी अगूठियाँ जिसकी उंगलियों में जलन पैदा करती हैं, चंचल स्वर्ण-वलय जिसकी कलाइयों में झटके खाते रहते हैं—स्वर्गीय सुषमा की प्रीति का यह तुच्छ प्रतिदान !

'किस साहस पर जा रहा है यह अकिंचन उस रूप-राशि को अपनी कुटिया में उतारने ?...'

उधर अन्तर का गिरह-कट उछल-मचल रहा था अलग :

'पढ़ा-लिखा तो हम से भी अधिक जान पड़ता है, पर न अपटुडेट हुआ, न नर-नायक ही बना। तभी न इस कुटिया के साथ कुश्ती कर रहा है—और चला है मुर्झाए गजरे पर एक लावण्य-लोल को रिझाने !...अरे, मूर्ख—कामिनी रीझती है कंचन से, कुसुम-कली से नहीं। पहले जेब भरो—और, वह किसी की जेब काटने से ही भरेगी। दुनिया-जहान—जहाँ जिसे देखो, किसी की जेब कतर कर ही जर जमा कर पाता है। बनियो-बकाल, सेठ-साहूकार, वकील-डाक्टर, अफसर-मिनिस्टर—सब तो किसी-न-किसी की गाँठ काट कर ही महल-मोटर, रुतवा या रूप का मालिक बन पाता है !...और, जो इस इल्मो-हुनर का उस्ताद नहीं हुआ, वही तुम्हारी तरह झोपड़ियों में फाकेकशी करता है और गुलाब के गजरे से खेलता अपने सपनों को सहलाता फिरता है ...'

अन्तर के इस व्यंग्य-विनोद को वह अधिक नहीं सुन सका और झपट कर पूछ-ताछ वाले कमरे में चला गया अपने को कोसता हुआ—कैसा दुर्बल मन है मेरा !

खड़ा है टेलीफोन वाले अफसर के पास, पूछ रहा है मद्रास-मेल का समय, परन्तु सोच रहा है कुछ दूसरा ही :

'क्या यह गजरा उसे नहीं भाएगा ? जब मैं इसे उसके गले में डाल दूँगा, तब क्या वह कृतार्थ न हो जाएगी ?...दूसरों के लिए वह देवी है, सातवें आसमान पर रहती है, पर मेरे साथ तो वह बचपन से खेलती–खुलती आई है। जो दु:ख–दर्द वह माँ-बहन से भी नहीं कह पाती थी, मुझे सहज भाव से सुना देती थी। मेरी तुच्छ-से-तुच्छ चीज भी अनमोल मानकर ग्रहण कर लेती थी। हाथी-दाँत का वह क्लिप—जो मैं मद्रास से लाया था, जब उसके आँचल में मैने खोंस दिया, तब वह किस तरह मुसकुरा उठी थी। हाँ, तब वह बालिका थी—ओस और आँसू से अपरिचित थी;—किन्तु अब...'

'खड़े क्या आकाश के तारे गिन रहे हैं—कह तो दिया कि गाड़ी आ रही है।'

अफसर की फटकार सुनकर वह चौंक उठा और लजाया-सा कमरे से बाहर निकल आया। तब भी वह सपना उसका साथ नहीं छोड़ रहा था।

एकबार की उसकी ढिठाई सब को ठेल कर सामने आ खड़ी हुई :

तभी-तभी वह शोक-स्नाता हुई थी और वह पहुँचा था उसे शोक-सान्त्वना देने। परन्तु इसको देखते ही वह यों पुलकित हो उठी, यों चंचल हो रही कि माँ-बहन भी देखकर चकित रह गई थीं। यह पता पाना कठिन था कि उसे कभी कोई शोक हुआ हो ···

नहा कर आई ही थी और दर्पण के सामने खड़ी होकर बाल झाड़ रही थी। यह नादान कमरे की खिड़की से उस शीतल और तरल चाँद को मुग्ध भाव से देख रहा था।

धरती का वह चाँद बेदाग और बन्धन-विमुक्त था—न भव्य भाल पर कोई बिंदिया थी, न गले में काला धागा ही दीखता था। फिर भी उस सद्य:-स्नाता का वह निराभरण सौन्दर्य चराचर के रोम-रोम को पुलकित कर रहा था।

यद्यपि वह सौन्दर्य दर्शनीय नहीं था, फिर भी बेसुध बना वह उसे देख रहा था—जैसे रस-रस करके सुधापान करता कोई तृषार्त आकंठ तृप्त हो रहा हो।

अफसोस यही कि वह राका-मुखी उसे देख नहीं रही थी।

जैसे पुष्प का पुष्कल मकरन्द पीकर छका मधुकर उड़ पड़ता है, यह भ्रमर भी कमरे से उड़ा और जाकर ठीक उसके पीठ-पीछे खड़ा हो गया।

दर्पण में परछाईं पड़ते ही वह घूम पड़ी और बिहँस कर बोली :

'क्या देख रहे हो ?'

'विधाता की अद्भुत सृष्टि···किन्तु एक छोटी-सी चीज के अभाव में यह सौन्दर्य-सृष्टि कुछ सूनी लगती है...जरा ठहरो...'

कहते-कहते जेब से लाल पेंसिल निकाल कर उसने उसके सूने भाल पर मृदुलता से एक लाल बिन्दी लगा दी और तुष्ट होता बोला :

'घूम जाओ और देखो—अब कैसी लगती हो !'

सुन्दरी घूम तो गई, पर बिन्दी देखकर जड़वत् खोई रह गई—जैसे विधाता की कोई बड़ी भूल भूत की तरह उसे घूर रही हो !

धीरे-धीरे उसके ढुल-मुल नयनों से अविरल अश्रु-धारा वहने लगी—जिसे

देखकर नादान घबरा उठा और उसके सजल कपोलों को दोनों हाथों में लेकर मंजुल ममता से बोला :

'रो क्यों रही हो—क्या मुझ से कोई गलती हो गई ?'

किशोरी घूमी और भीत दृष्टि डालती बहुत ही धीरे बोली :

'अभी-अभी लोगों ने उस दिन आँसुओं के बीच इस अभागे भाल से एक बिन्दी पोंछ दी थी और आज तुमने फिर यह दूसरी...'

इतने में किशोरी की माँ उदास मुख से उस हॉल में घुसी और दोनों को यों खड़े देख...हत-प्रभ हो जहाँ-की-तहाँ ठिठकी रह गई।

वह नादान तो देखते ही नौ-दो-ग्यारह हो गया—और...

सहसा मद्रास-मेल की सर्चलाइट पूर्णिमा की चाँदनी-सी बरस पड़ी उस नादान के मुँह पर और वह सब कुछ भूलकर उच्छ्वसित हो उठा।

पूरा सम्हल भी नहीं पाया था कि आँधी-तूफान की तरह हड़कंप मचाती गाड़ी प्लेटफार्म पर आई और कर्र-मर्र करती यों निस्तब्ध हो गई—जैसे उसका दम ही टूट गया हो।

चढ़ने-उतरने वालों की रेल-पेल बढ़ी और गजरे वाला फर्स्ट क्लास की खोज में दौड़ा। उसी दौड़-भाग में वह किसी से जा टकराया और देखकर निर्जीव-सा खड़ा हो गया। नेत्र-चिकित्सक हाथ जोड़े सरल भाव से मुसकुरा रहा था और वह युवक गजरे वाला हाथ छिपाने में विफल-विकल दीख रहा था। किन्तु प्रति-नमस्कार के लिए हाथ उठाना भी जरूरी था—सो भी अविलंब।

उसका असमंजस देखने लायक था।

वह निपुण नेत्र-चिकित्सक सज्जन और सुहृद् था—गजरे वाला उसका वह हाथ और उसके तन-मन का वह अप्राकृतिक असमंजस उस विमल व्यक्तित्व को विस्मित अवश्य कर रहा था, तथापि सरल-मृदुल चितवन के बीच से ही वह झटपट पूछ बैठा :

'कोई आ रहा है क्या मद्रास से ?'

'हाँ...' कहकर वह घुटकने ही लगा था कि दैवी दया की तरह चढ़ने-उतरने वालों का एक ऐसा रैला आया—जो दोनों को ढकेलता जाने कहाँ

से कहाँ ले गया ।

उस रेल-पेल से छूटकर जब तरुण ने इधर-उधर देखा, तो वह डॉक्टर उसे नहीं दीख पड़ा । सुख की साँस छोड़कर वह चंचल कदम, धड़कते दिल और सहमी नजरों से डब्बों को देखता चला ।

उसकी आकुल आँखों में अनचाहे वह डॉक्टर घुस गया था और जिसकी खोज थी, वह जाने किस कोने में जा छिपी थी !

इतने में टार्च की तेज रोशनी युवक के मुँह पर पड़ी और वह चकमका कर आँखें मलने लगा--क्या फिर डाक्टर ने उसे देख लिया ?

किन्तु जब उसने देखा कि अगले डब्बे से सिर निकाले कोई युवती उसे अपनी ओर आने का संकेत कर रही है, तब उन्मत्त-सा वह उछला और पास पहुँच कर बेधड़क डब्बे में घुस गया । फिर सामानों को टटोलता और ऊधम-सा मचाता बोला :

'तो उतरो न...यों सुस्थिर क्यों बैठी हो...गाड़ी खुल जाएगी...तैयार हो जाओ...मैं कुली बुलाता हूँ...'

कहते-कहते उसकी उमंग-भरी दृष्टि युवती पर पड़ी और वह सहसा कुछ चौंक पड़ा—जैसे एक घुमड़ती आँधी देख ली हो उसने उसके उत्फुल्ल मुख-मण्डल पर ।

सकुचाते हुए उसने पूछा :

'अनमनी क्यों हो—क्या तबीयत सम्हली नहीं है ?...अकेली ही आ रही हो ?...उतरो—गाड़ी खुल जाएगी । जाओ—मुँह-हाथ धो लो ।...कुटिया तुम्हारी प्रतीक्षा में उत्सुक है ...'

कुटिया का नाम सुनकर तरुणी कुछ चंचल हुई, पुलकित भी; पर फिर अनमनी बन कर बोली :

'मद्रास से अकेली ही आई हूँ—इस डब्बे में दूसरा कोई चढ़ा ही नहीं । आओ, पहले इन नयनों की प्यास तो दूर करो--फिर और कोई बात करना ...'

कहते-कहते वह उठी और युवक का हाथ पकड़ कर उसने उसे अपने पास बिठा लिया । सहसा उसकी निगाह गजरे पर पड़ी और हर्षोत्फुल्ल होती बोली :

'कुटिया ने मेरे लिए उपहार भेजा है और तुम देते नहीं हो—कैसे निर्मम

हो···लाओ हाथ इधर—मैं खुद ले लूँगी···'

गजरे की बात युवक उस रेल-पेल और इस उल्लास में भूल ही गया था। सहसा चौंककर उसने अपना हाथ देखा और एमदम सन्न रह गया।

तबतक तरुणी ने उसकी कलाई से गजरा निकाल लिया था और वह गौर से उसे देखने लग गई थी। देखते-देखते कुछ टूटती आवाज में वह बोली :

'ठीक मेरे लायक उपहार है यह।'

तरुण अचानक चिहुँक उठा :

'अरे···आह · यह तो एकदम मसल गया···कितने जतन, कितनी···'

'यह सब तुम्हारे हाथों की करामात है—जिसे छूते हो, उसे ऐसा ही अपरूप बना देते हो!'

तरुण निश्चय न कर सका कि तरुणी तीर मार रही है या उस पर फूल बरसा रही है। गजरे और तरुणी को नजरों से तौलते युवक ने आकुल अनुनय किया :

'नहीं, नहीं—फेंक दो इसे—यह अब तुम्हारे लायक नहीं रहा···शायद···'

युवक का वाक्य पूरा भी नहीं हुआ था कि उधर तरुणी ने गजरा गले में डाला और एक कुटिल मुसकुराहट फैलाकर कहा :

'कुटिया इससे अधिक सुन्दर और क्या देती मुझे—उसने तो अपने अन्तर के समस्त उल्लास को ही मानो इसमें गूँथ दिया है। बड़े जतन से काँटों के मध्य से इन फूलों को तोड़ा होगा तुमने। मैं कितनी अच्छी लगूँगी इसको पहनकर··· मैं सभक्ति प्रणाम करती हूँ उस पावन कुटिया को। तुम···'

'नहीं, नहीं···मैं इसे तोड़ दूँगा—यह तुम्हें शोभा नहीं देता···मेरी आँखों में गड़ता है···तुम यों ही बड़ी भली लगती हो···'

यह कर उसने गजरे में हाथ लगाया ही था कि तरुणी ने दोनों हाथों से उसका वह हाथ पकड़ लिया और अपने उभरे वक्ष पर जोर से दबाती वह दर्दीली आवाज में बोली :

'निर्मम—यह आखिरी निशानी है···इसे तोड़ो नहीं। यह मेरे हृदय का प्रतीक है—इसे मैं हृदय के पास ही रखूँगी। तुमने मुझे योग्य उपहार दिया है···तुम···तुम···'

'यह सब क्या बोल रही हो अनाप-शनाप? ···उतरो—अब गाड़ी

खुलेगी,...और वह अकिंचन कुटिया आँखें बिछाए है...'

युवक घबराकर सामान उठाने लगा।

तरुणी उठी—जैसे उतरने ही जा रही हो। धीरे-धीरे उसने कमरे की बत्ती गुल की और युवक के दोनों कपोलों को अपनी दोनों तरल हथेलियों मे लेकर उस पर झुक गई।

सहसा जैसे सचराचर की साँसें रुक गई हों, सबके हृदय की धड़कनें बन्द हो गई हों और सबकी आँखें सजल हो उठी हों।

सिसकते स्वर में तरुणी ने कहा :

'यह भी आखिरी भेंट है—निष्ठुर !...तुम बैंगलोर नहीं आए—बीमारी का तार पाकर भी नहीं आए; और—और मैं...मैं तपोधन के सामने झूठ बोल गई... माफ करना मुझे...मैं अब कहीं की नहीं रही...मेरा सारा स्वप्न टूट गया—नादान !'

युवक के पैरों तले से धरती खिसकती जा रही थी—उसकी आँखों में सरसों फूलने लगी थीं। उसे मालूम नहीं होता था कि वह स्वर्ग में है या नरक में। काँपती आवाज में वह बोला :

'पहेली न बुझाओ रमा—साफ-साफ कहो—बात क्या है ? ...बैंगलोर न आया, इसका कारण सहूलियत से सुनाऊँगा। अभी यह तो कहो कि तपोधन से तुमने क्या कहा ?'

युवक के कंधे पर अपना शिथिल सिर रख कर युवती सिसकने लगी :

'कहानी लंबी है—कभी सुना सकूँगी, इसका विश्वास नहीं होता है। गाड़ी खुलने पर है...और मैं अब उतर नहीं सकती। इसलिए इतना ही समझ लो कि हमारा वह प्रेम-पुष्प काँटों में खिला था...और वे काँटे अब उसके हृदय को सतत छेदते रहेंगे।...अपराध सबसे बड़ा तुम्हारा है—तुम बैंगलोर नहीं आए। अगर तुम बगल में होते तो मैं वह अनर्थ नहीं कर पाती।...जानते ही हो...बीमारी से उठी थी। तपोधन आए हैं, सुनकर असमंजस में पड़ गई—जाऊँ कि न जाऊँ।...दुर्दैव ने प्रेरणा दी और मैं चरण-रज लेने चली गई। वहाँ जाते ही अनपेक्षित रूप से छलनी बनी छाती में एक ऐसी घातक गोली लगी कि मैं उलट गई—अपने होश में न रही। कौन जाने उस बेहोशी में क्या-क्या बोल गई।...जब होश आयी, तब सिर धुनने लगी—अरे, यह क्या कर दिया मैंने—अपने हाथों अपना स्वप्निल घोंसला उजाड़ दिया !'

'तो उसी समय अपनी गलती सुधार क्यों न दी ?'

'साहस न हुआ—वह झूठ ही मानों मेरे जीवन की सच्ची गाथा बन गई और मैं उसी की ज्वाला में झुलसती बैठी रह गई ...नहीं जानती—घर जाने पर अब क्या-क्या देखने-सुनने को मिले ? ... जो भी हो, पर तुमने मेरे साथ विश्वास-घात क्यों किया—यह तो कहो ?'

कहकर युवती ने युवक की आँखों में आँख डालकर यों पूछा—जैसे कोई कमांडर अपने सैनिक से कैफियत तलब कर रहा हो। देखते-देखते उसकी सारी करुण-कातरता और उमड़ती विह्वलता जाने कहाँ विलीन हो गई और वह सिर से पाँव तक तार की तरह तन गई।

बिस्मित युवक सकपका कर बोला :

'विश्वास-घात...कैसा विश्वास-घात...?'

'हाँ, विश्वास-घात—वह भी साधारण नहीं—घोर...अति घोर...।'

'किसने मैंने...या...तुमने...?'

'तुमने—तुमने जाकर तपोधन से मेरे पीछे सारी बातें क्यों कह दीं ?... तय तो यह था—कि तुम अपने होठ सिए रहोगे—जो कुछ कहना होगा, किसी से मैं कहूँगी। फिर तुमने क्यों कहा तपोधन से...'

युवक चिन्तातुर होकर बोला :

'मैंने तपोधन से तो कुछ नहीं कहा है, पर उनके एक शिष्य से अवश्य कहा है...जो मेरे शुभ-चिन्तक हैं।'

'उनसे—जो भिक्षु-वेश में रहते हैं...और दस्यु का काम करते हैं...?'

'यह क्या कहती हो—वह तो तपोधन के बड़े विश्वासी हैं !... तुम कैसे जानती हो उन्हें ?'

'बहुत पहले तुम्हीं एक बार उन्हें मेरे सामने भी लाए थे और बीच-बीच में वह पिताजी के पास आया भी करते हैं। इसबार बैंगलोर में भी थे और एक विचित्र मुद्रा से मुझे घूर रहे थे।... मुझे उनकी दृष्टि अच्छी नहीं लगी। उनके बारे में कई ऐसी बातें भी मेरे कानों में पड़ी हैं जिनसे मालूम होता है—वह तपोधन को धोखा दे रहे हैं। अवश्य उन्हीं ने यह चुगली खाई होगी।...तुमने क्यों कहा भला उनसे...मेरी बातें ?'

'क्योंकि तबतक वह खुला रहस्य हो गया था और तुमने मेरे आत्मीयों के सामने अपने मौन से उस पर स्वीकृति की मुहर भी लगा दी थी।·· तपोधन को कौन धोखा देता है, वह तो अन्तर्यामी ही जानता है, पर हम भी तो वही···'

हठात् गाड़ी खुलने की घंटी जोर से टनटन–टनन बज उठी और युवक घबराकर बोला :

'तो तुम नहीं उतरोगी—बेचारी कुटिया प्यासी ही रह जाएगी ?'

'यह पंकिल पग अब कैसे पड़े उस पवित्र प्रांगण में ?'

'तो फिर मैं ही चलता हूँ तुम्हारे साथ—पिताजी से हम दोनों साफ-साफ सब कुछ कह देंगे।'

यह सुनते ही युवती संचरण-शील कछुए की तरह आघात की आशंका से अपने–आप में समा गई···और बहुत धीरे-धीरे बोली :

'नहीं, अब तो प्रत्यंचा से तीर निकल गया है। जानते ही हो—पिताजी तपोधन के कैसे अन्ध भक्त हैं···और तपोधन मुझे कैसी आदर्श लड़की मानते हैं। मेरी झूठ ही अब प्रथित पिताजी के लिए अमोघ अस्त्र बन जाएगी···और, अभी मेरे साथ तुमको देखकर सब लोग तुम्हें शोहदा समझेंगे—और संभव है पिता जी तुम्हें पुलिस में दे दें। उनका क्रोध तुम···'

'और···उनकी यह लाड़ली—तुम देखती रह जाओगी टुकुर-टुकुर···जीभ भी नहीं हिला सकोगी···?'

युवक की कातर दृष्टि और उसकी काँपती व्यंग्य-ध्वनि युवती के कलेजे को छेदने लग गई···और, वह यों घुटकने लगी—जैसे सत्य का वह गरल निगला न जा रहा हो उससे। तड़प कर वह कहने लगी :

'नादान···निर्मम—नहीं जानते कि नारी कैसी निर्बला होती है—सो भी मुझ-सी जैसी अधजली नारी···'

'इसी लिए तो मैंने तुम्हारे उस प्रस्ताव का तभी विरोध किया था। जानता था—कि तुम बड़े बाप की बेटी हो···और मैं एक अज्ञात अकिंचन···'

'लेकिन तुमने तो मेरी एक भी बात न मानी। कहा—इंगलैंड जाओ और बैरिस्टर बनकर आ जाओ। फिर सबका मुँह बन्द हो जाएगा···'कास्केट' हाथ में रख दिया—तब भी नहीं गए! ···कहा—बैंगलोर आ जाओ—हम दोनों

साथ-साथ तपोधन के चरणों में लोट जाएँगे। तब पिताजी भी चुप रह जाते। सो भी नहीं किया। कहा––होठ सिए रहो, वह भी न हो सका।...अब तो वह अंगारों का घर हो गया है––जाकर मुझे उसमें तिल-तिल करके जीवन भर जलना है...'

'यों अकेली मैं तुम्हें जलने न दूँगा। साथ-साथ मैं भी जलूँगा और तुम्हारी सोई आत्मा को जगाऊँगा––तुम्हारी उस झूठ को सच में बदल दूँगा... और मैं कायर नहीं हूँ, रमा––काल से भी ताल ठोककर भिड़ सकता हूँ तुम्हारे लिए। तुमने एक अकिंचन से प्रेम किया है––बैरिस्टर से नहीं। चोरी-चोरी तुम्हारे रत्नाभरण बेचकर मैं बैरिस्टर बनने को तैयार न हूँ। और...तुम्हारे साथ मुझे देखकर तपोधन कहीं भड़क न जाएँ––इसी से मैं बैंगलोर न आ सका था। यों तो मैं उसी समय पिताजी के पास जाकर सब कुछ कह देना चाहता था, परन्तु आग्रह करके तुमने ही मुझे रोक दिया––तुम्हें शोहदा समझेंगे !...आज फिर वही बात दुहरा रही हो !...सोचता हूँ––उस समय तुम्हारी बात मानकर मैंने भारी गलती की। अन्यथा बात यहाँ तक नहीं पहुँचती...'

तरुणी इस नग्न सत्य को न पचा सकी और चुपचाप आँखों की राह उसे निकालने लगी।

युवक उसके आँसुओं से भींग तो गया जरूर, पर पसीजा बिलकुल नहीं। उसके गीले कपोलों को ममता से पोंछते हुए वह दृढ़ता से कहने लगा :

'रमा, जीवन का संघर्ष यों असमर्थ आँसू बहाने से जीता नहीं जा सकता। हमें जरा दृढ़ होकर उसका सामना करना होगा। दुनिया दुर्बलों को पीसती है और बलवानों के आगे सिर झुकाती है। तुम्हें अब अपने संकल्प को स्पष्ट शब्दों में सबके सामने रख देना होगा...'

कहते-कहते सहसा जैसे उसे कुछ याद आ जाए। कुछ रुककर वह गंभीर हो गया और फिर निस्संग होकर कह चला :

'संकल्प का अर्थ 'प्रोत्साहन' न समझ लेना, रमा। प्रेम तुम्हारा है, प्रस्ताव भी तुम्हारा है––दोनों पवित्र धरोहर हैं मेरे पास। जब चाहो, लौटा लेना उन्हें––मुझे जरा भी शिकायत न होगी...'

युवती ने चौंक कर पूछा :

'क्या कहा...तो क्या मेरा प्रेम एकांगी है ?'

युवक जरा भी अप्रतिभ न हुआ उस प्रश्न से--उलटे मधुर मुसकान से भर उठा :

'प्रेम की बात उससे पूछो जो उसे ठीक पहचानता है—तुम्हारा हृदय ही उसका सही जवाब देगा।...मैं केवल इतना ही कहूँगा कि धरोहर के नाम पर जो अधिकार मैंने तुम्हें दिए हैं, दयाकर वही अधिकार तुम मुझे भी देना—जो धरोहर मेरी तुम्हारे पास है, मेरे माँगने पर ही लौटाना...'

धरोहर की बात सुनकर रमा का हृदय जाने किस विषम वेदना से हहर उठा और वह बरबस चीख उठी :

'धरोहर का नाम न लो, तरुण—मैं अपराधिनी हूँ, पापिनी हूँ; तुम्हारी उस पवित्र वस्तु को मैंने नादानी से नष्ट कर दिया है। इसके लिए क्षमा न कर मुझे कड़ी-से-कड़ी सजा तुम दो मुझे...'

इतने में गार्ड ने आगे बढ़कर इंजन को हरी रोशनी दिखाई और चुर्र-मुर्र करके सीटी भी बजा दी।

युवती धड़फड़ा कर उठी और सजल नयनों में मुसकुराहट मिलाती कोमल-कातर होती बोली :

'कुछ फल लाई थी तुम्हारे लिए—लेते जाओ। हाँ, अनन्नास का सिर काट कर अपनी कुटिया के एक कोने में जरूर गाड़ देना और रोज सींचने के समय उसमें थोड़ा खारा पानी भी मिला देना मेरी याद में—वही मेरा प्रतीक होगा। उस पावन कुटिया में मैं नहीं जा सकी, यह मेरा अभाग्य है—मैं मातृ-तुल्य उस पुलकांगी को यहीं से सादर प्रणाम करती हूँ।...गाड़ी खुल रही है—अब तुम उतर जाओ...'

खोया-खोया-सा, खोखली आँखों से देखता, तरुण बोला :

'तो क्या तुम अपनी धरोहर लौटाती हो रमा ?'

सुनते ही विह्वल-वदना युवती की भ्रू-भंगिमा कुछ कुंचित हो गई और अपने अश्रु-विगलित कपोल पोंछकर वह कुछ अकड़ती हुई बोली :

'नादान, नारी देना ही जानती है—लौटाना नहीं। और, लेन-देन की महाजनी जो करता है, उसे 'पुरुष' कहा जाता है—नारी नहीं। मैं केवल

इतना ही कहूँगी कि उस सरल शैशव में ही जब पहले-पहल मैंने तुम्हें पिताजी के पास बैठे देखा, तो सहसा ऐसा प्रतीत हुआ कि तुम चिर-परिचित ही नहीं, अत्यन्त आत्मीय भी हो मेरे। तुम्हारी भोली आँखों की वह भूली ज्योति मेरे अन्तर में घुस कर जैसे पूछने लगी—कहाँ थी अबतक, ओ मेरी चिर-सहचरी ?...देखो, कहाँ-कहाँ से सर-सरिता और गिरि-निर्झर को लाँघता मैं आ गई हूँ तुम्हारे साथ हँसने-खेलने !...बस, मैं उसी क्षण मुग्ध हो गई; और, जब एक दिन आँख खुली तो देखा—मेरी वह मुग्धता अकेली नहीं है। फिर दूध-चीनी के उस अनूठे मिश्रण में यह हिसाब कैसे रखा जाए कि किसकी मिठास कितनी है ?...तरुण, समर्पण—सो भी नारी का समर्पण—केवल एक बार होता है; और वह कभी लौटाया नहीं जाता।...हाँ, प्रतिकूल परिस्थितियाँ उसे झकझोरती हैं जरूर, उठा-पटक भी करती हैं और कभी-कभी कुचल भी देती हैं।...लेकिन झाँको इन आँखों में, हाथ रखो इस दोलायमान् वक्ष पर और सुन लो उसकी धड़कनों की आह-कराह... कहो, क्या देखते हो, क्या सुन पाते हो...'

कहकर तरुणी ने तरुण का हाथ सचमुच अपने उमड़ते वक्ष पर रख लिया।

'तो अब उतर जाओ—गाड़ी खुल रही है। जाकर पिताजी से कहूँगी—उनका पत्र पाकर तुम आ जाना।'

'नहीं, रमा, अब मैं दूसरी गलती नहीं करूँगा—तुम्हारा साथ नहीं छोड़ूँगा। वह नागिन तुम्हें डस लेगी—तुम्हारा साहस छीन लेगी। मैं बचपन से जानता हूँ उसे—वह तुम्हें यों ही तड़पाती रहेगी—जिससे उसके लाड़ले तुम्हारा सब कुछ पा सकें।'

तरुणी इस सत्य से भी आँखें न मोड़ सकी; क्योंकि बचपन से वह अपनी नागिन बहन की सब बातें खोलकर सुनाती आई थी तरुण को। उसके फुफकार के सामने सचमुच वह भींगी बिल्ली बन जाया करती है। फिर भी अपने को सहलाती-सी वह बोली :

'विश्वास रखो—अब मैं किसी नागिन-जोगिन की परवा नहीं करूँगी, जरूर पिताजी से कह दूँगी। तुम मेरी यह आखिरी बात मान लो—उतर जाओ।'

'नहीं, मैं अब यह नादानी नहीं करूँगा—चाहे जिस हालत में रहो तुम,

मैं साथ रहूँगा...'

इतने में इंजन एकाएक जोर से चीखा और गार्ड ने फिर चुर्र-मुर्र कर दी। गाड़ी एक छोर से दूसरे छोर तक बेतरह हिली-डुली और युवती बिकल हो उठी :

'कहती हूँ—उतरो; नहीं तो—मैं चलती गाड़ी से कूदकर प्राण दे दूँगी !... याद रखो, अभी उस नरक में तुम नहीं जा सकते—तुम और तुम्हारी प्रतिष्ठा मुझे प्राणों से भी प्रिय है। वह नागिन तुम को देखते ही ऐसी बौखलाएगी कि नोच-नोचकर तुम्हारी नस-नस में जहर भर देगी—और, फिर मैं कहीं मुँह दिखाने लायक नहीं रह जाऊँगी। वह हमारी कमजोरी देख चुकी है, बहुत पहले से नाक-भौंह सिकोड़ती आई है; और, अब—जब यह रहस्य उसे मालूम हो जाएगा, तब भला वह तुम्हें जिन्दा छोड़ेगी...नहीं, नहीं; तुम उस खतरे में नहीं जा सकते हो। मैं तुम्हें भी जानती हूँ—भारी हंगामा हो जाएगा और हम दोनों पिस जाएँगे।...विश्वास करो—मेरे तन-मन की हालत अभी अच्छी नहीं है; मैं सामाजिक लांछना बर्दाश्त नहीं कर सकूँगी अभी। तुम अगर हम दोनों की भलाई चाहते हो, तो अभी उस आग में न कूदो—तुम्हें मेरे सिर की ही कसम है।...वहाँ जाकर मैं पिता जी से कहूँगी—उनका पत्र पाते ही तुम आ जाना।'

'कह सकोगी उन्हें...?'

'विश्वास...'

वाक्य पूरा नहीं हुआ और गाड़ी खुल गई। युवक तब भी उसका मुँह देख रहा था एक अगम्य भाव से—और उधर गाड़ी की गति तीव्र होती जा रही थी...

युवती ने बत्ती जला दी कंपार्टमेंट की। टोकरी के साथ युवक अनमने मन से उतरा और लड़खड़ाते-लड़खड़ाते आखिर गिर ही पड़ा—जिसे युवती तुरत न देख सकी।

गाड़ी भागती रही तेजी से।

यह तो संयोग ही था कि ड्युटी पर के एक रेलवे कांस्टेबुल की नजर उस पर पड़ गई। उसने बिजली की तरह उछल कर गाड़ी के नीचे जाते हुए युवक की टाँग पकड़ ली और खींच कर जोर से उसे प्लेटफार्म पर पटक दिया।

फिर हंटर से पीटते हुए वह चिल्ला उठा :

'चोर...उचक्का...लफंगा...'

प्राण तो युवक के बच गए, पर पिटाई से वह बच न सका।

स्टेशन के सब लोग दौड़कर आ गए और थोड़ी दूर जाकर मद्रास-मेल भी कें-में करके खड़ी हो गई। कुतूहली मुसाफिर भी दौड़ पड़े—'क्या हुआ, क्या है, कौन है?'—की आवाज चारों ओर गूँज उठी।

और, तारीफ यह कि जो भी आया, उस लफंगे पर हाथ साफ करने लगा। जैसे संसार का सारा पाप-ताप सिमटकर आज एक उस लफंगे से लिपट गया हो और सारी दुनिया गंगोतरी में नहाकर एकदम पाक-साफ बन गई हो।

इतने में एक तेज टार्च का प्रखर प्रकाश पड़ा उस जन-समूह पर—जिसके बीच वह लफंगा औंधे सिर पड़ा था निष्प्राण-सा और कांस्टेबुल कड़क रहा था;

'यह लफंगा फस्ट-क्लास में घुस गया था—जिसमें एक लेडी अकेली सफर कर रही थी। यह टोकरी उसी लेडी की है। वह तो मैंने देख लिया, नहीं तो बच्चू की हड्डी-पसली भी नहीं मिलती—लुढ़कता चला जा रहा था पहिए के नीचे! लगता है—कुछ पीए हुए भी है!'...

देखते-देखते दर्प-दीप्त दुर्गा की तरह, क्रुद्ध सिंहनी की तरह, फुफकारती भुजंगिनी की तरह, उभरे यौवन वाली, दमकते मुख-मण्डल वाली, लावण्य-लतिका-सी लीला-लोल, एक युवती भीड़ को चीरती-फाड़ती आ पहुँची उस लफंगे के पास और यों देखने लगी उस भीड़ को—जैसे सबको निगल ही जाएगी।

तरुणी को देखते ही भीड़ सकते में आ गई और मनचले लोगों के हाथ-पाँव की खुजली छूमंतर हो गई। सब लोग कुतूहल, विस्मय और उत्कंठा से तरुणी के अंग-अंग पर दृष्टि दौड़ाने लगे।

किसी को नितंब के नीचे तक झूलती उसकी लंबी वेणी भाई, कोई उसकी चमकीली खादी पर रीझा, किसी की आँखों में उसका उड़ता अंचल उड़ा, तो कोई उसके फूल रहे नथनों पर नत हुआ। लेकिन भीड़ में कोई भी ऐसा न था जिसकी दृष्टि उसके दीप्त मुख-मण्डल में फड़कते अधर और उसके उन्नत उरोजों पर जाकर हर्ष और विषाद की आह न लेती हो।

तरुणी का दमकता भाल लेकिन सूना था और उसके विशाल वक्ष बेतरह विह्वल हो रहे थे।

हाँ, उसके गले वाला गुलाब का वह निर्दल गजरा अवश्य सबके लिए एक अनोखा पदार्थ दीख रहा था।

एक ओर लोग यों तन्मय थे छवि-छटा के निरीक्षण-परीक्षण में—और, उधर उस युवती ने कड़ियल कांस्टेबुल को एक क्षण गौर से देखा और फिर एकाएक चप्पल निकाल कर गरजती हुई अंधाधुन्ध बरसाने लग गई उसके ऊपर :

'बोल—तूने मेरे बेगुनाह आदमी पर हंटर क्यों चलाया ?...बता अपना नाम और नम्बर—भेजूँ तुझे जहन्नुम में...'

कांस्टेबुल को काटो तो कहीं खून नहीं—ठीक जैसे मौत के सामने आ खड़ा हुआ हो। हाथ जोड़कर गिड़गिड़ाता हुआ वह कहने लगा :

"हुजूर, मैंने तो इनाम पाने का काम किया था—जान पर खेल कर इन्हें कटने से बचाया ! दुर्भाग्य—बदले में चप्पल की यह मार मिली और ऊपर से जहन्नुम जाने की तैयारी भी हो रही है !...यह गरीब क्या जानता था कि यह आपके आदमी हैं—डब्बे से चोर की तरह उतरे और लड़खड़ा कर गिर पड़े। जरा भी देर होती और यह जहन्नुम में चले जाते। अब इनके बदले मुझे जाना है—मेरे बाल-बच्चे अब भूखों मरेंगे !···हुजूर ही बताएँ—अब कोई भी ईमानदारी से कैसे काम करेगा ?···लफंगे-उचक्के तो पीटे जाते ही हैं ! लेकिन मैंने ड्यूटी बजाई है बहादुरी के साथ—मुझ पर चप्पल की यह मार क्यों सरकार...'

कांस्टेबुल की बातों से युवती का गुस्सा उतरता जान पड़ा। उसने कुछ झेंप से घुटकते हुए कहा :

'इनाम तुझे मिलेगा, पर हंटर चलाकर तूने मेरा माथा खराब कर दिया है। ले—यह तेरा इनाम है...'

कहकर युवती ने पर्स खोला और एक नम्बरी नोट निकाल कर उसके हाथों में रख दिया :

'चिन्ता न कर, नाम और नम्बर बता—तेरी तरक्की तुरत हो जाएगी।"

कांस्टेबुल कृतार्थ और भीड़ दंग। सबके मुँह पर गर्व और रोब के भाव और होठों पर खेलती मन्द मुसकान—'अवश्य किसी बड़े मिनिस्टर की बेटी है, मगर यह लफंगा···?'

कांस्टेबुल का नाम और नम्बर नोट करके तरुणी उस लफंगे पर [illegible] झुकी।

कांस्टेबुल ने भी सोत्साह उसे उठाया। युवती ने अपने रूमाल से उसके अंग-प्रत्यंग झाड़े-पोंछे और फिर दोनों सम्हाल कर उसे ले आए उस फर्स्टक्लास में।

कांस्टेबुल जब सलाम करके चला गया, तब युवती ने ममता से कहा:

'बच गए मेरे भाग्य से। चोट ज्यादा आई होगी—यह सब मेरे फूटे कपाल का दोष है!'

'इस बचने से तो कट जाना कहीं अच्छा था—मरम्मत जो हुई, वह तो हुई ही, पर फजीहत की तो हद ही हो गई। कहो—अब कैसे किसी को मुँह दिखा सकूगा...? डाक्टर के कानों में जब यह बात पड़ेगी, क्या सोचेगा वह भला आदमी मेरे बारे में...?'

'यही तो जीवन का दूसरा तीखा पहलू है—यह सामाजिकता। मनुष्य अकेला नहीं है, सामाजिक प्राणी है—समाज ही उसकी साँस है। व्यक्ति अपने आप में कुछ भी हस्ती नहीं रखता है—पिस जाता है समाज से टकराकर। इसीलिए तो मैं...'

'इसीलिए तुम अन्धकार के पर्दे में छिपकर प्रेम-लीला करना चाहती हो...'

बात बड़ी कड़वी थी और दर्द के धक्के से हठात् निकल पड़ी थी युवक के अन्दर से। कह तो गया, पर समाप्त होते-न-होते पछताने लगा—जैसे तीर उलटकर उसी की छाती में जा घुसा हो। ऐसा मर्माहत हुआ कि युवती की ओर आँखें उठाने का भी साहस न कर सका।

और, बेचारी वह युवती—जिसने पद-प्रतिष्ठा वाले माँ-बाप को, भरे-पूरे घर-द्वार को, प्रिय परिजन-पुरजन—सबको भूलकर प्रेम के नशे में इस अकिंचन को जा पकड़ा था...आज वही अभागा उसे यों फटकार रहा था—निष्ठुर होकर बाणों से यों उसे छेद रहा था ...

तिलमिलाती हुई वह युवती तेजी से सोचने लगी:

'प्रेम का यह नशा मुझ सरला पर कैसे चढ़ा?...किसने चढ़ाया?... क्या इसमें इस युवक का कोई हाथ नहीं है? ..'

घटनाएँ एक-पर-एक उसकी आँखों के सामने उभरती गईं और वह ग्लानि में गलती चुपचाप आँसू बहाती रही।...और तो और—उस गहरी निशा में, निद्रा और तन्द्रा के तल्प पर जब सारी वसुधा बेसुध पड़ी थी, बगल में ही अपने पलंग पर

पड़ी पक्षाघात-ग्रस्त उसकी बूढ़ी माँ जब खुर्राटे भर रही थी, तब—तब उस नीरव निस्तब्धता में किसका मृदुल स्पर्श पाकर सहसा उसकी भोली नींद खुल पड़ी और सिर-से-पाँव तक जाने कैसी मधुर-मादक सिहरन से वह भर गई थी··· किसने वह जादू की छड़ी फेरी थी उस अनजान के तन-मन पर···

हटाए भी वह दृश्य उसकी आँखों से हटना नहीं चाहता था...कि हठात् युवक ठसक के स्वर में बोला :

'ठीक है—व्यक्ति पिसता है समाज की निर्दय चक्की में, पर उसकी नकेल भी तो व्यक्ति ही पकड़ता है। पिसता है वही—जिसमें उठने की ताकत नहीं होती।...आओ, रमा—हम बहुत पिस चुके हैं, अब साहस के साथ उठें और अपने साथ इस समाज को भी उठाएँ...'

'तो फिर चले चलो मेरे साथ—हम निर्भय होकर नाग-नागिन के उस माया-पाश को तोड़ फेंकेंगे।'

युवती में न जाने कहाँ से एक नई चेतना, एक नया जोश, एक नूतन उल्लास आ गया और उसने युवक का हाथ पकड़ कर अपने पास बिठा लिया। फिर सुख की साँस छोड़ती वह बोली :

'तुम पास रहते हो, तो मुझे कोई चिन्ता नहीं सताती है। लगता है, तुम्हारे प्राणों में समाकर मैं सभी विघ्न-बाधाओं से सुरक्षित हो जाती हूँ।'

'लेकिन मुझे तो अभी कुटिया में लौटना है—और अपने आत्मीय...'

बात काटकर बीच में ही युवती बोल उठी :

'अब किसी आत्मीय-फात्मीय की बात मत करो। जैसे मैंने सबको छोड़ा, तुम्हें भी सबको छोड़ना पड़ेगा। और...'

कुछ चिन्तित होकर वह कहने लगी :

'गलत न समझ बैठना मुझे, तरुण—तुम जिस विश्वास और उत्साह के साथ लाते हो अपने उस आत्मीय को मेरे सामने, मैं उसकी अध-मुँदी आँखों और मुस-कुराते होंठों में कल्याण की कोई कामना नहीं देख पाती हूँ। लगता है, एक दिन वह तुम्हें धोखा देगा...'

'दे कोई धोखा मुझे, पर मैं किसी को धोखा नहीं दे सकता। हम अकिंचनों का सबसे बड़ा धन वह आत्म-विश्वास और उत्साह ही है। उसे खोकर हमें जीना

पसंद नहीं है।'

'फिर तुम अपनी नादानी से मुझे दुर्बलता के गहरे गड्ढे में ढकेल रहे हो। नतीजा ...'

'जिस दुर्धर शक्ति का प्रदर्शन तुमने अभी-अभी किया, वह शक्ति तुम्हारा साथ न छोड़े—यही कामना है मेरी ...'

'याद रखो, वह स्टेशन का अनजान प्लैटफार्म नहीं है—नाग-नागिन का भयानक ढूह है। वहाँ रात-दिन जहरीला धुआँ उठता रहता है—जहाँ साँस लेना कितना दुष्कर है, यह तुमसे छिपा नहीं है। ... और...माफ करना मुझे.. सच यही है कि तुम अपने उस आत्मीय के लिए ही मेरा यह बलिदान कर रहे हो—जिसे मैं अन्तर से घृणा करती हूँ। याद रखो –तुम्हें वह नाग-पाश निर्ममता से काटना होगा—तभी हम सुखी हो सकेंगे।'

तरुण इस गुप्त तथ्य से इन्कार नहीं कर सकता था। अपनी यह कमजोरी वह खूब पहचानता था। वह रमा के साथ अपने आत्मीयों के बीच ही रहना चाहता था—उसके उस आलीशान राजमहल में नहीं। वह राजमहल, उसका वह ठाट-बाट, उसकी पद-प्रतिष्ठा और उसका प्रिय-परिजन—किसी के साथ उसकी कोई आसक्ति न थी। वह अपनी झोपड़ी, अपनी फटेहाली और अपने आत्मीयों में मस्त था। रमा को उसने आकाश-कुसुम समझा था, उसकी दिव्य गन्ध पर वह अन्ध-मुग्ध भी था, उसके स्वर्गीय साहचर्य की भूख-प्यास भी उसमें कम न थी, पर वह उसे कभी आत्मसात् करने का स्वप्न नहीं देख सका था।... लेकिन एक दिन—जब जाने किस प्रेरणा से वह वैसी हरकत कर बैठा उस नीरव निशीथ में, तब भी वह देवता की तरह दिव्य गन्ध से ही तृप्त होना चाहता था—उस पारिजात को वृन्तच्युत करके अपने शयन-कक्ष की शोभा बढ़ाने की कामना कभी नहीं जगी थी उसके मन में। इसीलिए मुग्धात्मा 'रमा' ने जब दो से एक होने का प्रस्ताव उसके सामने रखा, तब वह अपने भाग्य पर इठला न सका। उलटे एक अज्ञात भय-मिश्रित संकुचित उल्लास आ खड़ा हुआ उसके सामने—क्या सुन रहा है वह यह ?...सत्य या स्वप्न की बात ?...कैसे सम्हाल सकेगा सौभाग्य के इस अनपेक्षित आभार को ?...और उसने अन्तरतम से चाहा—प्रयत्न भी किया कि वह अपना प्रस्ताव वापस ले ले,—पर...पर...

अपनी समस्त दुर्बलताओं को समेटते हुए युवक ने गला साफ करके कहा :

'तुम बहुत ठीक कहती हो, रमा—आदमी दुर्बलताओं का पुतला होता है, मिट्टी उसे बहुत खींचती है—मैं तुमको अपनी कुटिया में ही खींच ले जाना चाहता हूँ ..'

'तो मैं कब इन्कार करती हूँ—फिर उतरो और चले चलो—जहाँ तुम्हारी आत्मा रमती हो।'

तरुण इसके लिए भी तैयार न हो सका—जाने कौन-सा पहाड़ टूट पड़े उस कुटिया पर जिसमें उसके आत्मीय रहते हैं। सभीत स्वर में वह बोला :

'तपोधन के सामने तुम झूठ जो बोल आई हो—कुटिया में लोग तुम्हें रहने देंगे शान्ति से ?... तुम बड़े बाप की बेटी जो ठहरी—सारी दुनिया टूट पड़ेगी उस गरीब कुटिया पर...'

'एक ओर खन्दक और दूसरी ओर खाई—तो फिर मुझे जाने दो अपनी उस अन्धी दुनिया में। जाकर सूचित करूँगी, तब आना।'

'कह सकोगी पिताजी से ?'

'संकल्प तो रखती हूँ।'

'कहीं वह नागिन तुम्हारा गला न घोंट दे...'

'कौन जाने...'

'तो मैं चलता हूँ साथ।'

'नहीं, तुम्हारी दुर्गति मैं देख न सकूँगी—गले में फाँसी लगा लूँगी।'

'तो जाओ—भगवान् तुम्हारा भला करें !'

'यों ही चले जाओगे...'

कहते-कहते आवेशमयी युवती ने सहसा भुज-लता बढ़ा दी—और उसकी आँखें अनायास बन्द हो गईं...

युवक आप-से-आप खिंच गया उस वर्तुल आवर्त में।

एक क्षण के लिए निरन्तर गतिशील यह सृष्टि-चक्र रुकता-सा जान पड़ा।

इतने में मद्रास-मेल के मदमस्त इंजन ने जोर का एक ऐसा धक्का दिया कि सारी गाड़ी धड़क उठी और जो जहाँ जिस हालत में था—सब-के-सब

सजग होकर चौकन्ने बन गए।

बाहु-पाश को ढीला करती युवती ने अनिच्छा से ही कहा :

'तो अब उतर जाओ— नहीं तो फिर गिर पड़ोगे।'

'तुम्हारे मन से भी…?'

'सौ जन्म में भी नहीं।'

'पिता से कहोगी ?'

'साहस तो करूँगी, पर कह सकूँगी कि नहीं—यह तो दैव ही जानता है'

'तो यह भी सुन लो…मैं अधिक प्रतीक्षा न कर सकूँगा—तीर की तरह छूटा चला आऊँगा—जहाँ तुम होगी। मुझे काल भी नहीं रोक सकेगा—ऐसा दुर्धर हो जाऊँगा।'

तबतक गाड़ी खुल चुकी थी।

युवती ने सहारा देकर उसे उतार दिया।

उतरते-उतरते उतावली से वह बोला :

'मैं तपोधन को भी लिखूँगा।'

तपोधन का नाम सुनते ही युवती की नस-नस में बिजली-सी एक बेचैनी फैल गई। खिड़की से सिर निकाल कर उसने देखा—युवक गाड़ी के साथ-साथ दौड़ रहा था, पर क्षण-क्षण पिछड़ता जाता था। रूमाल हिलाते उसने जोर से कुछ कहा—जिसका एक ही शब्द वह अभागा पकड़ सका—तपोधन…

सूनी कुटिया के असूझ पथ पर कोई अबूझ अभागा उँघता-सा डगमग पग रख रहा था। गाड़ी उसके हृदय-सर्वस्व को छीनकर गिरहकट की तरह अन्धकार में गायब हो गई थी। फिर भी उसका स्वर्णिम स्वप्न टूटा नहीं था—जैसे किसी के प्रेम-पाश में जकड़ा, किसी के उमड़ते वक्ष पर डोलता, किसी की सौरभ-साँस में समाया, किसी के रस-निर्झर नयनों में झिल-मिल करता—उड़ा चला जा रहा हो आनन्द, आह्लाद और उल्लास के अनन्त आकाश में !

गाड़ी की गड़गड़ाहट भी मिट चुकी थी, परन्तु जो अदृश्य गड़गड़ाहट उसकी धड़कनों में आ बसी थी, स्वप्निल जीवन और ऊर्म्मिल यौवन के जो माया-मय दृश्य उसके रागारुण लोचनों के समक्ष उभरे थे, अतृप्त अधराधर की मधुर सुधा का जैसा आकंठ-पान उसने किया था—क्या उसको वह गहरी खुमारी कभी – किसी दुर्दिन में भी—टूट सकेगी ?...

—::०::—

लतान्तराल का झूला

गाढ़ी नींद और तरंगित तन्द्रा से गुपचुप खेलने वाली मधुर यामिनी बीत चुकी थी। राग-रंजित विराग की आरती उतारती जीवन-ज्योति चतुर्दिक् झंकृत हो उठी थी। अन्ध-कक्ष में अलसाई-पड़ी प्राची-दिशा अपनी उनींदी पलकों पर से कुटिल अलकें हटा रही थी। उधर मनोरमा की मुसकान को मात करती अरुणोदय की आभा अंचल उड़ाती वन-उपवन में इठलाने लग गई थी। हरे-भरे तरु-पल्लवों में छिपे पुलकित-प्राण पखेरुओं का कलरव क्रम-क्रम से कोलाहल में बदल चला था। किन्तु शीतल समीर अभी कहीं झपकी ही लेता जान पड़ता था।

इसी दुर्लभ द्वाभा के बीच एक अनाहूत आगन्तुक चिन्तित मन से शिथिल कदम रखता अपने चिर-परिचित विशाल सौध-द्वार पर आकर अनमना-सा खड़ा हो गया।

कुछेक क्षण वह चिन्ता-मग्न यों ही खड़ा रहा। क्योंकि, फाटक खुला था, परन्तु अन्दर दालान का दरवाजा बन्द था।

उसकी धुँधली दृष्टि चारों ओर दौड़ी—सर्वत्र एक विचित्र उदासी फैल रही थी। भवन को चारों ओर से घेरकर जो उद्यान ऐसे समय उन्मुक्त कल-कूजन में मग्न रहा करता था, आज एकदम मौन दीख रहा था।

विहंगम-वृन्द के कल-गान की तो बात ही क्या—वह अरुण-शिखा, जो आगन्तुक को देखते ही अंग झाड़कर, गर्दन फुलाकर और रंगीन कलँगी फैलाकर मस्ती से बाँग दे उठता था—वह बेचारा भी आज जाने कहाँ दुबक गया था।

और, मड़ैये के पास वाली वह बुलन्द बछिया—जो इसको देखते ही गर्दन उठाकर रँभाती हुई रस्सी तुड़ाने लग जाती थी, आज जाने क्यों रोनी सूरत बनाए टुकुर-टुकुर देख रही थी।

हवा भी जैसे किसी भय से काँप रही थी—हौले-हौले ही चल रही थी, फिर भी रह-रहकर दम तोड़ देती थी।

घर वही था, बाग-बगीचा वही था, पर्ण-पुंजों में छिपा उसका वह लता-मण्डप भी वही था। सब कुछ वही था—बहुत वर्षों से उसका जाना-पहचाना था; पर, आज सब-के-सब ऐसे बेगाने और बेचारे बन रहे थे—जैसे अचानक अभिशाप-ग्रस्त हो गए हों !

पेड़-पौधों और पशु-पक्षियों की बात कौन चलाए, लेकिन जिसके आते ही खिड़की दरवाजे, चौकठ-किबाड़, सहन-सोपान भी रोमांचित होने लग जाते थे—आज जाने क्यों सब की नजर नम और नीची दीख रही थी !

आगन्तुक ने पहले एक अनिच्छुक मुद्रा से एक क्षण उस भारी-भरकम दरवाजे को देखा; और, साहस करके उसे खटखटा भी दिया—परन्तु आश्चर्य—कोई सुनवाई न हुई !

वह वही दरवाजा था, जिसके अन्दर जाने की कभी अरुचि रहने पर भी, जो आप-से-आप खुलता हो नहीं था, एक कोमल कंठ निकल कर हठ से उसे अन्दर खींच भी ले जाता था…

और, आज वह नटखट ही कहाँ था, जो आहट पाते ही—'मामा… मामा'—चिल्लाता निकलता था और दौड़कर, उसका दोनों हाथ पकड़ कर, लट्टू-सा नाचने लग जाता था !

अरे, और वह मनहूस मिनिया ही जाने क्यों न आगे आई—देख कर भी क्यों आज झाड़ू लगाती रह गई आँगन में—जो कभी भनक मिलते ही आँख मलती गुड़ की मक्खी-सी उड़ आती थी उसके पास !…

आशंका और आकुलता को तो रास्ते भर वह सम्हालता-सहलाता आया ही था—यह सब देखकर उसका विस्मय और भी विषम हो गया।

बाहर सब तरफ प्रखर प्रकाश फैल रहा था, पर इस अभागे के आगे उस दिन जो धुँधलापन छाया, वह पल-पल गहराता ही चला जा रहा है !

कुछ-कुछ अन्दाज में आने पर भी वह समझ नहीं रहा था कि जो घर इतने दिनों से उसका 'अपना' था—जहाँ कहीं से भूले-भटके, कहीं से थके-माँदे, कैसे भी हारे-हहरे आकर वह सुख की साँस लेने लग जाता था—उसका वही

निल घोंसला आज उजड़ा-सा क्यों दीख रहा है !

आज के पहले तो वह अपने को इस घर का पाहुन ही नहीं, इसकी लजीली आँखों का उजाला ही नहीं, गुप-चुप इसके चर-अचर का एकमात्र अधिकारी भी मानने लग गया था—फिर आज यों दूध की मक्खी क्यों हो रहा है !

हतभाग्य की आँखें घूम-फिर कर आखिर उठीं उसी नाचीज की ओर—जो दूर से उचक कर कभी-कभी कनखियों से उसे देख तो लेती थी, मगर जाने क्यों झुँझलाती-सी फिर पत्थर पर झाड़ू पटकती रह जाती थी...

वह वही नाचीज थी—जिसकी ओर उस मूढ़ ने छोह-मोह की कौन कहे, एक महज मामूली हमदर्दी की नजर भी आज के पहले न डाली थी !

सच—भयंकर भँवर में पड़ा हुआ भयार्त आदमी तिनके की कौन बात, सड़े-गले मुर्दे को भी छाती से चिपका लेता है !

यह झाड़ू वाली तो—जो कभी अपनी बहती आँख-नाक भी नहीं पोंछ पाती थी, आज नीली कंचुकी को अंचल से कस कर यों मटक रही थी !

आगन्तुक अचरज में पड़ रहा था—क्या यह वही बदसूरत छोकरी है, जिसके सूखे-रूखे बाल कभी कठफोड़े की चोंच की तरह बदतमीज-से खड़े रहते थे—कंघाए जाकर, फूलों से सजकर आज कैसे भोले-भाले लग रहे थे !

अनुचित जँच रहा था यों गौर से उसे देखना, पर नन्दन-कानन से खिसके उस मनु-पुत्र ने उस वन-फूल को ही जी-भर कर देखा; और, फिर साँस घुटक कर पुकारा :

'मिनिया...'

पुकार पर मिनिया जरा चौंकी, हाथ की झाड़ू जरा ठिठकी, गर्दन भी जरा टेढ़ी हुई, पर दूसरे ही क्षण जाने क्यों यथावत् अपने काम में लग गई ।

पुकारने वाले का संकोच सघन हुआ और आँखों का अँधेरा गहराया—

'अरे, आज तो यह भी बहरी हो गई है !'

एक क्षण अकचकाया-सा रुककर जाने फिर किस साहस से उस कुंठित ने

कोमल कंठ से फिर पुकारा :

'मिनिया...जरा इधर देखो...'

इस बार वह नाचीज एकाएक घूम गई और एक कुटिल जिज्ञासा से उसका मुँह देखने लगी। क्या वह उस सुसंस्कृत युवक से पूछ रही थी—'क्या काम है इस चिर-तिरस्कृत प्राण से ?'

'जरा पिन्नी को कहोगी...'

कंठ की कातरता, दृष्टि की तरलता और अनुरोध की आकुलता से वह नादान ऐसी कंटकित हुई कि झाड़ू फेंककर पिछवाड़े दरवाजे की ओर दौड़ पड़ी।

युवक आशा और आशंका से देखने लगा।

मगर, जब, एक-एक करके पन्द्रह मिनट बीत गए; और, जब न वह लौटी, और न दरवाजा ही खुला, तब—तब जैसे हवा निकल जाने से बैलून पिचक जाता है, वह हताश भी उसी तरह आह ले उठा—'नहीं आएगी शायद...'

अब तो 'राइट एबाउट टर्न' करने के सिवा दूसरा कोई चारा नहीं रह गया था उस मूढ़ के लिए। अतः जैसे ही घूम कर उसने मनहूस कदम उठाया कि सुनाई पड़ा—'सामी...'

ठिठक कर उसने धड़कते दिल और विस्मित नेत्रों से देखा—मिनिया उँगली से इशारा कर रही थी लता-मण्डप की ओर।

युवक पुलकित हो उठा और लता-मण्डप की ओर बढ़ना ही चाहता था कि बालक रमण दौड़ा आया और 'मामा-मामा' कहकर उसकी गोद में चढ़ गया।

सब कुछ भूलकर युवक उस नन्हें को पुचकारने और जेब से निकाल कर पेरिस की रंगीन मिठाइयाँ खिलाने में तन्मय हो गया।

इतने में फटाक से दालान का वह भारी-भरकम दरवाजा खुला और उसके अन्दर से निकली—नाक-भौंह सिकोड़े, नजरों में नागिन का जह्र घोले, घर की मालकिन—नागम्मा !

रमण को उस युवक की गोद में देखते ही वह बौखला उठी :

'कहाँ गया वहाँ···उतर···क्या खा रहा है वह···उगल···जहर की

गोलियाँ हैं···आ···चल···घर में चल···'

प्रतिवाद करने का जरा भी मौका न देकर बच्चे की वह नीकल माँ बाज की तरह झपटी और उसे युवक की गोद से छीनकर यों भागी—जैसे वहाँ कोई लकड़-सुंघा आ गया हो !

रमण उस नागिन की गोद में छटपटाता हुआ चिल्ला रहा था :

'बचाओ''''ओ मामा···बचाओ ··'

'मामा···मामा···मामा'—की करुण ध्वनि-प्रतिध्वनि से दिशाएँ दहल उठीं···

हक्का-बक्का वह देख ही रहा था कि रमण को कहीं रखकर वह नागिन फिर लौटी; और, आकर उसने इतने जोर से दरवाजा बन्द कर दिया कि छत की कड़ियाँ भी काँप उठीं···

मूढ़ का अवश हाथ अचानक छाती पर चला गया—जैसे वह धक्का उसी पर लगा हो !

क्या इस भवन में भूकंप हो रहा है···और वह अभागा क्या उसके मलवे में मिल गया है ?

लता-मण्डप में अब कौन जाए ?···न जाए, तो लौटे भी कैसे बिना उसे देखे ?···और, अगर जाए, तो क्या यह चुड़ैल उसे कच्चा चबा न जाएगी ?

दुबिधा में दबा ही जा रहा था कि मीठी आवाज आई :

'सामी · पिन्नम्मा···उधर···'

आवाज के साथ मिनिया आकर खड़ी हो गई युवक के सामने सुस्थिर भाव से। उसका मुखड़ा बता रहा था कि वह युवक को साथ ले जाएगी उस लता-मण्डप में।

युवक की पिंडली कुछ काँप रही थी—यद्यपि वह बुजदिल न था। खतरे में खड़ा होना वह पसंद करता आया था। विदेशी सैनिकों की तनी बन्दूकों और उन पर चढ़े संगीनों का मुकाबला उसने अतुल साहस के साथ किया था। फिर भी आज उसकी पिंडली जाने क्यों काँप रही थी !

जाए कि न जाए वह उस लता-मण्डप में—जहाँ वह पीड़ित-प्राणा उसकी बाट जोह रही थी; और, यह मिनिया संकेत कर रही थी—चौराहे पर खड़े सिपाही की तरह !

प्रश्न था कि जब जान-बूझकर उसने—सिंह की गुफा में पाँव रखा है, तब उसके हिलते-अयाल और खुले पंजे-जबड़े देखकर वह भाग तो सकता नहीं !... जाएगा...जरूर जा...

सहसा खटाक से वह वज्र-कपाट फिर खुला और बिजली की तरह निकली वह धूमिल ज्वाला :

'यों क्या देख रही है, चुड़ैल—भाग...बायलर जला...झाड़ू ला...'

तो क्या अब खौलते पानी से अभिषेक करके किसी को झाड़ू से झाड़ा भी जाएगा ?

समाँ संगीन हो उठा ! युवक के पांवों में जैसे बेड़ियां पड़ गई हों।

घर की रोबीली मालिकिन आदेश दे रही थी; और, वह चिर-अनुचरी टुकुर-टुकुर देख रही थी उस मूढ़ युवक की ओर—जरा भी हिलती-डुलती नहीं थी।

नादान को यों चित्रवत् खड़ी देखकर वह ज्वाला और भड़क उठी :

'सुनती नहीं...बहरी बन गई है...बेहया कहीं की...कहती हूँ—भाग यहाँ से...'

सुनना तो दूर, मिनिया ने उलट कर देखा तक नहीं—बेपरवाह-सी युवक की ओर देखती बोली :

'सामी... पिन्नम्मा...उधर...'

अचरज और आतंक मुँह बाकर आ खड़े हुए—वह गर्जन-तर्जन... और यह ढिठाई—यह हुक्म-उदूली...जाने क्या बीते अब—इस नन्हीं जान पर ...

किन्तु भगवान् ही जाने—आज वह बाघिन क्यों पराजित हो गई एक मासूम मेमने से। आँखों में अंगार और मुँह पर मायूसी छिपाए वह अन्दर चली गई...

और, दरवाजा खुला-का-खुला रह गया !

लता-मण्डप कुछ दूर तो था नहीं, किन्तु वही नगण्य दूरी आज किसी के लिए

पहाड़ हो चली थी। पाँव यों अनमने उठ रहे थे कि निर्णय करना कठिन था—कोई चल रहा है, या सो रहा है!

ऊँचे-सीधे साखू और सघन-लहराते सागौन के पादप-पुंज से घिरा, झूमते-झूलते कामिनी-कुंज की गोद में निश्चिन्त-सा खड़ा, सिर-से-पाँव तक विविध लता-पुष्पों से आच्छादित वह लता-वितान ऐसा मनोरम था—कि आनन्द-कानन ही जान पड़ता था।

चिकने श्वेत पत्थर के चबूतरे पर बिछा कालीन, कालीन पर कुछ आराम-कुर्सियाँ—और उनके बीच लौह-खंभों से लटका वह सुखद झूला...

युवक की आँखों में मोद-मद से वह झूला ही झूल रहा था—जिस पर की अनगिन स्मृतियाँ अपनी-अपनी कथा सुनाने को जाने किस तरह मचल-उछल रही थीं उसके अन्तर में...

उसी मायामय मण्डप के नीचे—शान्त, सुरभित, शीतल छाया में बैठ-उठकर, झूल-झूमकर ही तो दो अनजान हृदयों ने जाने कितनी दीप्त दुपहरिया, जाने कितनी राग-रंजित सन्ध्या और जाने कितनी झिल-मिल उन्मद रातें बिताई थीं!

बरबस याद करता है, बार-बार पुलकित होता है और चलते-चलते ठिठक जाता है। तब आँखों में नाच उठता है वह चंचल पवन—जो कहीं से चुपके-चुपके आता और किसी कोने में यों दुबक जाता—जैसे उस संगोपन-संलाप का वह भी कुछ स्वाद लेना चाहता हो...

लेकिन, वह चपल ऊधमी कम न था—अधिक समय तक शान्त बैठा नहीं रह पाता था। सहसा ऐसा उन्मन हो उठता और यों आहें लेने लग जाता था—कि कुसुम-कोमला किशोरी काँपने लग जाती थी।

कभी वह ढीठ ऐसा मचलता था कि किसी के मृदुल अंगों से अठखेलियाँ ही करने लग जाता था—और, वह सरला सिकुड़-मुकुड़ कर रह जाती थी।

अद्भुत क्रीड़ा-कुशल था वह अगम्य गन्धवह। अलक्षित आकर उस निर्मल-नयना को कभी केवल गुदगुदा देता, कभी जाने कहाँ से कूद पड़ता और किसी के अमल अंचल को आहिस्ते खिसका कर चुपचाप चल देता!

देखते-देखते जाने फिर कहाँ से टपक पड़ता और लता-मण्डप के निस्तन्द्रिल

नयनों से टकराता ढेर-का-ढेर फूल बरसा कर सबको निहाल-सा कर देता था।

कभी काली घटा-सी उनरी अलकों से ही खेलने लग जाता और चुपचाप उसके कपोलों को चूमता चंपत हो जाता था।

स्वेच्छाचारी भी कम न था वह। निर्द्वन्द्व आता और किसी की कसमसाती कंचुकी पर परिमल-से पड़े परिच्छद को ही उड़ा देना—और, वह अनजान ऐंठ कर रह जाती थी। दर्शनीय हो उठती थी वह बेकली !

प्रच्छन्न प्रतिद्वन्द्वी वह जाने आज कहाँ था—कौन बताए ?

यों सपनों के गुहान्तराल में वह पथचारी धँसता चला जा रहा था और उसका वह छोटा पथ अनन्त भूल-भुलैयों में खोया मालूम होता था।

अरे देखो—पीले पंख और लाल चोंच वाली वह मनहर मुनिया उड़ आई उसके लोचन-पथ पर—जिसकी मोहक तान को सुनकर दो उलझे प्राणों में ऐसी मद-मर्मर मूर्च्छना उठती थी, ऐसा सरगम बज उठता था—जिसकी अन्तरा को सम्हालना ही मुश्किल हो जाता था।

पता नहीं, आज वह नन्हीं जान कहाँ छिपी थी !

छोटा पथ, पर थका पथिक और उसके थके-माँदे वे पाँव—अरे, देखता कोई—कैसे सायास उठ रहे हैं ! लगता है, उसका अन्तर नहीं चाहता है कि यह संकीर्ण पथ कभी समाप्त हो—और, वह अनन्त काल तक यों ही चलता रह जाए !

देखो—ऋषि-मुनि-से जटाधारी वे पादप-पुंज भी आगे आकर उसकी अगवानी करने लगे हैं—जिनकी मोटी छाया में बैठकर वह गर्व-चंचल 'फ्रूट-गैदरिंग' का ऐसा अनूठा अभिनय करता था—कि वह निसर्ग-निर्मला उस पर उत्सर्ग-ऊर्म्मिल हो उठती थी।

सपनों का वह यान—जैसे धुनी रुई के सदृश शरत-कालीन सरकते श्वेत बादलों पर, कोई विभ्रम डोल रहा हो।

शिरीष और बकुल भी उभरे, पर अन्य पथिक को लुभा न सके। हाँ, उसका वह कदम्ब उसे अवश्य कंटकित कर रहा था—जिस पर झूला डालकर

उन्मुक्त पेंगें मारने में वह जीवन की सब से बड़ी कृतार्थता समझता था—और, जब बल-पूर्वक उस कुसुमांगी को भी वह उस पर बिठा देता था, तब तो मानो स्वर्ग ही उतर पड़ता था उसके सामने ! ऊँची-नीची पेंगों के बीच जब वह कलिका हा-हा खाती उसे पकड़ लेती थी, तब तो जैसे आनन्द-सिन्धु ही किलोलें करने लग जाता था सारे संसार में ।

तब तक वह मस्त रसाल भी उसके नयनों में झूम उठा — जिसका पका फल तोड़कर जब कभी वह उसके किलकते अधरों पर रख देता था, तब वह किशोरी जिस प्रकार छिहुल उठती थी—सोचता है···और...सोचता ही रह जाता है !

वह दृश्य ओझल भी नहीं हुआ था कि असंख्य चन्द्रिकाओं से भरा, भारी-भरकम पूँछ वाला वह मयूर भी उसका रास्ता काट गया—जो उस युगल-जोड़ी को देखकर कभी-कभी ऐसा मंत्र-मुग्ध हो जाता था कि अपनी अनूठी छतरी खोलकर घंटों बेसुध बना नाचता रह जाता था !

अरे, वह उन्मद नृत्य—कौन उस अगम आनन्द की गहराई भाँप सकता था !

पगडंडी के उभय ओर वाली वे कुसुम-क्यारियाँ भी आज कतराती दीख रही थीं – जिनके खिल-खिलाते नयनों में अपनी अलस आँखें डाल—कोई कभी लाड़ से, कभी लालसा की लौ से, कभी स्पर्धा से ही पूछ बैठता था – 'यों ढुलमुल किसे निहार रही हो – कुटिले ?'

यों कहकर निर्मम हाथों कुछ कसमसाते फूल तोड़ लेता और चुपके-चुपके किसी की झूलती वेणी में गूँथ देता, तब वह निर्मल-आनना जिस लाड़ से उस काली नागिन को वक्ष के बीच डालकर जिस मृदुल दुलार से उन फूलों को देखने लग जाती थी—अरे, उसकी कोई कल्पना भी कर सकता है क्या ?

अरे, चिता और चिन्ता की आग में तिल–तिल जलने वाले किस मनु-पुत्र का वह महद् भाग्य होगा—जो श्री और सुमन से लबालब स्वर्गंगा के उस पावन प्रवाह में अपने को यों निश्चिंत बहते छोड़कर जन्म-जन्म की कृतार्थता पा जाए...

सहसा कानों में किसी का मीठा स्वर-संकेत सुनाई पड़ा :

'इधर...सामी...इधर...'

चौंककर उस दिङ्मूढ़ ने पुलकित पलकें उठाईं और अपनी वह नासमझी देखकर दंग रह गया—अरे, वह मूढ़ तो उलटी दिशा में डग भर रहा था...

लता-मण्डप का द्वार उन्मुक्त था। परियों के पंख-सदृश मृदुल-गुलगुल गुदगुदाहट से भरे, स्वप्न-लोक के झूले पर सिर झुकाए बैठी रमा हौले-हौले यों हिल रही थी—जैसे अन्तर की कोई गूढ़ व्यथा ही उसे बरबस डुला रही हो...

कोमल कपोल-पाली पर चुप-चाप जो ऊष्म आँसू फैल रहे थे—अपनी धूमिल रेखाओं में उस व्यथा को और उलझाते जान पड़ते थे...

द्वार पर आकर 'तरुण' निश्चल और निश्शब्द खड़ा हो गया।

नील नभ से चूकर जाने कैसी नीरस निर्ममता इस धरती पर बिछ गई थी। कहीं कोई आहट न सुन पड़ती थी।

'तरुण' पुतले की तरह निस्पन्द खड़ा स्वप्निल नयनों से तरुणी को एकटक देख रहा था। टोकने का साहस न हो रहा था उसका; और, न तरुणी ही सिर उठा रही थी...

हृदय की मन्द पड़ती धड़कनों में और सिसक रही साँसों में समय की गति भी ठहरी-सी जान पड़ती थी...

सहसा कहीं से उड़ती हुई मिनिया आई और निधड़क झूले के पास जाकर रमा के कानों में फुसफुसा उठी :

'सामी...अम्मा...सामी...'

रमा ने अलस मुखड़ा आहिस्ते उठाया—और, मिनिया गोरय्ये की तरह फुर्र से उड़ गई।

सामने सकपकाए-से खड़े 'तरुण' को रमा ने एक क्षण निष्प्रभ नयनों से देखा—और, देखती ही रह गई,—जैसे उसकी आँखों के आगे अचानक कोई गहरा कुहरा घिर आया हो...

दोनों की आँखें खुली थीं; और, दोनों एक-दूसरे को देख रहे थे, फिर भी यों जड़वत् थे—जैसे कोई किसी को पहचान न रहा हो...

लगता था—एक को जैसे जड़ता जकड़े हो, तो दूसरे को मूढ़ता मन्त्र

मार रही हो...

शनैः-शनैः युवक की मूढ़ता मिटी—और, वह साहस करके, सभीत दृष्टि से चौकन्ना बना, उस झूले के पास यों पहुँचा—जैसे सचमुच कोई उचक्का हो !

परिस्थिति कैसी प्रबला होती है—देखते-देखते घर के प्रिय पाहुन को उसने आज कैसा चोर बना दिया है...

(सच, मनुष्य परिस्थिति के हाथों का पुतला मात्र है !)

रमा तब भी न हिली-डुली, न उसके लोचनों में कोई चंचलता ही दीखी—जैसे पलकों में पुतलियों के बदले पत्थर की गोलियाँ भर दी गई हों !...लेकिन, अचरज यह—कि जाने किस ताप से वे गोलियाँ धीरे-धीरे गलती चली जा रही थीं !

इधर-उधर देख कर युवक ममता से झुका—और, अप्रतिम अनुराग से उमड़ कर गीले हो रहे उन गोरे गालों को अपने काँपते हाथों में ले लिया...

रमा तब भी निस्पन्दित देखती रही—जैसे सचमुच जापानी गुड़िया हो !

केवल आँखों में आँसू रिस रहे थे और उन्नत वक्ष उभर रहे थे !

'तरुण' ने बड़ी सावधानी से बैठकर रमा का रूखा सिर अपनी गोद में रख लिया—और, नेत्रों से नहलाता, हौले हाथों उसे सहलाता, एकदम दबी जबान से बोला :

'यों शून्य में क्यों मिलती जा रही हो—रमा ?...क्या तबीयत ठीक नहीं...'

तभी लता-मण्डप के पीछे किसी का भारी पदाघात हुआ—और, साथ-साथ एक तीखी ध्वनि भी सुनाई पड़ी :

'अपना 'सोना' ही जब खोटा हो, तब धूर्त सुनार के साथ खपपट करने से क्या लाभ...?'

पदाघात करने वाली वह अदृश्य प्रत्यंचा सामने तो नहीं आ सकी, परन्तु उसकी वह कटु टंकार उस विशाल उद्यान के बहिरन्तर से टकराती और एक तीव्र टीस उठाती, बड़ी देरतक गूँजती रह गई...

हौले-हौले आकर हवा ने पूछा—'किसका सोना खोटा है ?'

चिड़ियों ने चौंक कर प्रश्न किया—'कौन पागल हमारे सोना को खोटा बताता है ?'

फूलों ने पंखुड़ियाँ गिरा कर, मुर्झाए नयनों में विस्मय भरकर, मौन भाषा में अपना विषाद व्यक्त किया :

'हमको तो उस सोने में सुगन्ध भी मालूम होती थी !...कौन है वह ईर्ष्यालु—जो इस सुषमा को यों लांछित कर रही है ?'

पेड़-पोधों ने सिर डुलाकर कहा :

'नहीं, हम इस प्रलाप पर विश्वास नहीं करते—कि हमारा यह दमकता सोना खोटा है !'

जिधर कान जाए, जिधर नयन उठें, जिधर मन दौड़े—सब ओर से एक ही ध्वनि, सब ओर एक ही चित्र, सबके मुँह में एक ही चर्चा—सोना और खोटा !

रमा मौन थी, उसकी आँखें अन्ध-तमस में डूबी थीं, और कानों की राह प्रवेश करके चर-अचर की वह हलचल उसके समस्त अन्तर्जगत् को झकझोर कर, कठोरता से कुचल कर—जाने कैसा कुत्सित किए दे रही थी...

'सोना' और 'खोटा'— ये दो शब्द अपने लाल और काले पंखों पर सबको चढ़ाए जाने किस शून्य-लोक में उड़ाए चले जा रहे थे...

हाँ, इस विशाल घर का, इस प्रिय परिवार का, इसके श्रद्धालु परिजन-पुरजन का, इसके सम्मान्य अतिथि-अभ्यागत का ही नहीं—अरे इसके परम पूज्य और लोक-लोचन के चरम आराध्य उस तपोधन की तपः-पूत आँखों का भी जो 'सोना' था—आज वह 'खोटा' बन कर घर-बाहर यों लोक-लांछित हो रहा है...

अरे, कितना गर्व था, कितनी ममता थी और कितना मोह था सब को इस 'सोना' पर—जैसे यह केवल सोना न था, इस में सुगन्ध भी आ बसी थी...

किन्तु वही सोना आज खोटा है—और, यों तिरस्कृत हो रहा है...

नभ से, नीलिमा से; पेड़ से, पवन से; पक्षी से, पत्तियों से; लता से, फूलों से; कीट से, पतंग से—जिधर दृष्टि फेरो—सभी से एक ही ध्वनि आ रही थी :

'अपना सोना ही जब खोटा है...'

:

क्या वह 'सोना' खान से ही खोटा निकला था ?...या किसी छलिया के हाथों में पड़कर उसका रूप-रंग बदल गया है?...सोचते ही रमा का अन्तर आकुल हो उठा—और, वह रागारुण होकर बोल उठी :

'सुना न—इस घर का सोना खोटा हो गया है!...कहो—यह किसके हाथों की करामत है...?'

तरुण अपने को निरपराध मानता हो, ऐसी बात तो थी नहीं। फिर भी जो जवाब उसके मन में उठ रहा था, वह उलझा हुआ था—उसमें तर्क-वितर्क तो कम, परन्तु कविता का कुहरा अधिक था। उसी कुहरे में टटोलते हुए उसने लट-पटाते लहजे में कहा :

'सुना तो जरूर, लेकिन साफ समझ न सका। आभास इतना ही मिला—कि कहीं कोई तूफान उठ रहा है, जो टूटना ही चाहता है हम पर...'

रमा वह कविता न समझ सकी और न उस समय उसमें वह सहन शक्ति ही रह गई थी। क्षोभ ने एक विकट व्यंग्य को उछाल दिया उसके अन्तर से...

'गुलाब का वह गजरा कैसा गर्बीला था—क्या हालत हुई उसकी तुम्हारे हाथों में पड़कर ?...यह 'सोना' भी उसी का प्रसाद पाकर ऐसा हो गया है—खोटा...खोटा !'

रमा का वह 'खोटा' शब्द उलट कर, चारों ओर से घुमड़ कर 'तरुण" पर यों बरस पड़ा—कि सिर-से-पाँव तक वह 'खोटा' दीखने लगा।

वास्तव में उसी के संसर्ग-दोष का फल तो वह चख रही थी—और, अभी उसका वह स्पर्श उसे वैसा ही संकुचित करने लगा—जैसे किसी को कोई कोढ़ी छू रहा हो !

रमा के मुख पर उस संकोच की कुंचित रेखाओं को उभरते और प्रस-रित होते देखकर 'तरुण' का तन-मन काँप उठा और अपने अपराध की गुरुता से वह सुध-बुध खोने लगा। आखिर कष्ट से कराह कर वह बोला :

'अपराध- जानता हूँ—इसी से तो सामने आने का साहस नहीं हो रहा था...'

छूटते ही रमा ने रूखे कण्ठ से पूछ दिया :

('तो फिर दौड़े आए ही क्यों ?...मना तो कर दिया था मैंने उसी

समय—आग में न कूदना...'

'तरुण' की आँखों में धुँधली फूल उठी। कलेजा यों कसक उठा—जैसे किसी ने कटारी घुसेड़ दी हो !...आह और कराह में डूबकर उसका रोंआँ-रोंआ रो उठा—कैसी कठोर होकर बोल रही है ?...अरे, कभी वह उन्मद प्यार, कभी यह उत्कट फटकार ! समझ में नहीं आता नारी का यह विचित्र व्यवहार...

लेकिन इतना तो स्पष्ट हो गया उसे—कि यह गरल जो पिघल रहा है, आत्म-ग्लानि के गुरु-गम्भीर धक्के खाकर ही उबल-उछल रहा है !...और इसका मूल कारण है यह अधम—इसी की लीला-लोल लालसा ने, ऊँचे आसमान से उतार कर, इस स्वर्गीय सुमन को धरती के घृणित धूल-धूम में मिला दिया है ... धिक्कार—सौ-सौ बार धिक्कार है—ऐसे पामर-प्राण को !!

सच—किस साहस से दौड़ा आया, और...किस साहस से स्पर्श किया इस निर्लज्ज ने ?...लेकिन...उसका वह पागल प्यार—उमड़ कर, अन्ध बनकर भुज-लताएँ फैला देना, और—खींचकर बाहु-पाश में यों जकड़ लेना—कोई कैसे भूल सकता है ?...अरे, कैसे कोई इसे निष्ठुर और निर्मम कह सकता है ?—किन्तु—किन्तु, इसका यह दारुण कोप...यह कातिल कटार...यह विषम विकार—कोई सहन भी कैसे कर सकता है ?...

जवाब देना जरूरी था, इस लिए दबी जबान से 'तरुण' ने कहा :

'रहा न गया। सोचा—जाने तुम किस कष्ट में पड़ गई हो !...सहा न गया वह शूल—और, पागल की तरह दौड़ा चला आया। लेकिन...'

झुँझला कर झट रमा बोल उठी :

'यह—'रहा न गया' और—'सहा न गया'—ही हमारे कष्टों का मूल है। इसी की चक्की में हम पिसते चले जा रहे हैं। जाने कब समाप्त हो यह 'रहा-सहा' और उसका यह—असह्य अभिशाप...'

'तो यह अभिशाप अब दूर हो जाता है दृष्टि-पथ से—जिससे तुम पर कोई उँगली न उठाए—ताना न मारे...'

'यह अक्ल तो भड़ियाही करने के पहले आनी थी—अब तो सारी रसोई

ही बर्बाद हो चुकी है…'

'तरुण' पर सौ घड़े पानी पड़ गया। जमीन में धँसता-सा वह बोला :

'संसर्ग में आना दुर्भाग्य माना जा सकता है। इसीलिए जब तुमने वह प्रस्ताव किया, तब मैं अन्तर से उसका समर्थन न कर सका—जाने एक कैसा अज्ञात भय मुझे सिहरा गया। सोचा—यह पागलपन क्यों सवार हो गया तुम पर? कहाँ तुम, कहाँ मैं—जमीन आसमान का फर्क !…भला दुनिया इसे बर्दाश्त कर सकेगी—अरे, मैं ही इस असम भार को सम्हाल सकूँगा?… इसीलिए जब तुम अपने आग्रह पर अटल रह गई, तब घबराकर तुमसे दूर चला गया—और, पत्रोत्तर देना भी छोड़ दिया। सोचा—पास रहने से ही तो तुम में यह मोह पैदा हो जाता है !… लेकिन तुम्हारा वह प्रवल आग्रह, वह आकुल अनुरोध, वह कठोर कसम, मौत की वैसी धमकी—भला किसमें वह ताकत थी, जो उस प्रचण्ड प्रवाह के साथ जोर-आजमाइश करता !'

रमा अपने-आप में डूब गई और देरतक अपने अन्तर को छानती रही।… सच ही तो—जब वह कापुरुष कतरा रहा था, तब जाने क्यों जोर लगाकर, पतंग की तरह, खींच लिया था अपने पास !… जैसे उसका आहत-अभिमान ही बोल उठा हो—'एक सन्नारी के समर्पण का, उसके स्नेह-दान का यह अपमान—सो भी एक अकिंचन के हाथों !… नहीं, उसके दर्प को चूर-चूर करके उड़ा दो आसमान में…'

अपने ही भावों की थाह न पाकर, शून्य में बिखरती-सी रमा को कुछ दूसरा ही सूझ गया; और, वह एक अन्दाज से देखती पूछ बैठी :

'अच्छा एक बात पूछती हूँ; जरा छाती पर हाथ रख कर कहना—क्या सचमुच तुम मुझ से दूर-दूर रहना चाहते थे?…क्या सचमुच मेरा वह समर्पण तुम्हें ना-पसन्द था?'

सुनकर युवक सन्न रह गया। जबान बन्द और अन्दर में हलचल। सत्य तो इसके ठीक उल्टा था—दूर जाकर तो उसके प्राण तड़पते ही रहे थे—कब

पत्र आए, कब बुलाहट पहुँचे, कब तार मिले···किन्तु, यह भी झूठ न था—कि वह उसकी शुभ-कामना करके, रोता हुआ भी, उससे दूर-दूर ही रहना चाहता··· स्वार्थ और परमार्थ का वह संघर्ष कैसा अद्‌भुत था—सोचकर वह खुद दंग रह जाता था !····दोनों बातें सच थीं—वह तड़पता भी था, साथ ही दूर भी भागता था।···लेकिन, सच-झूठ के इस घोल को वह शब्दों में कैसे व्यक्त करे—यह उसकी समझ में नहीं आ रहा था···

यों बिखरने और सिमटने के सिलसिले में ही युवक ने कहा :

'रमा, इसकी सफाई मैं पहले भी कई बार दे चुका हूँ—और, जाने कब तक देता रहूँगा ···जितनी बार कहता हूँ, लगता है—असली बात तो रह ही गई है !···वाणी की यह बंचना मुझे परेशान कर देती है !···आह, वाणी अगर भाव को यथावथ प्रकाशित कर पाती, रमा—बेबसी का कुछ ऐसा ही गोल-मोल बखान मैंने कर दिया है—तपोधन के पत्र में ···'

तपोधन का नाम सुनते ही रमा यों हत-चेत हुई—जैसे आसमान से गिर पड़ी हो। एकदम कुंठित होकर वह बोली :

'यह क्या कहा तुमने—मैंने तो चलती गाड़ी से चिल्लाकर कह दिया था—कि तपोधन को कुछ न लिखना—फिर यह दूसरा विश्वास-घात क्यों ?'

कहते-कहते रमा अमित क्रोध और क्षोभ से भरकर घुटकने लग गई :

'अरे, यह तो दूसरी बार तुमने मेरी पीठ में छूरा भोंका—मेरी झूठ को भी झुठला दिया···क्या सोचेंगे अब वह मेरे वारे में—'किस दर्प से मुकर गई थी···और— कैसे कहने चली गई फिर उसी से···कैसी···'

'अरे रे—स्वर्ग से तो गिरी ही थी ··अब नरक में भी ठौर नहीं रहा !··· उसी समय उनका मुँह लटक गया था और उन्होंने आश्चर्य से देखकर कहा— 'ऐसा···तुम्हारा उससे कोई सम्बन्ध नहीं है···'

'और, अब···अब मेरा कैसा चित्र उभरेगा उनकी आँखों में—ओह, अरे, मैं मर क्यों न जाती ?...इस वंचक ने तो मुझे अब किसी के आगे मुँह दिखाने लायक भी नहीं रखा···जा रे अभागा—जा—दूर—दूर चला जा मेरी आँखों

से…अब मैं तेरी सूरत से भी नफरत करती…'

सहसा लता-मण्डप के पीछे पुनः किसी का भारी पदाघात हुआ और जड़-चेतन सबके हृदय को व्यंग्य-बाण भेद गया :

'एक अज्ञात-कुल-शील के साथ रास-क्रीड़ा करने का यही फल होता है…चप्पल से पीटकर भगाओ उस नमक-हराम को—जिस पत्ते में खाया, उसी में छेद किया…नरक का दरवाजा बन्द नहीं हुआ है पापियों के लिए—दे दो उस बदमाश को पुलिस के हाथों में…चलो, उठो—बीमार माँ कबतक भूखी-प्यासी राह देखती रहेगी लाड़ली बेटी की…'

चराचर जैसे संज्ञा-शून्य हो गया हो वह विष पीकर। कोई प्रतिध्वनि न पाकर वह दुर्धर ध्वनि उस पद-चाप के पीछे-पीछे मन्द पड़ती हुई महल के भीतर गायब हो गई।

'तरुण' जैसे सोए से जगा और धीरे-धीरे झूले से उतर कर बोला :

'तो अब यह अभागा दूर होता है नजरों से सदा के लिए…जाते-जाते सिर्फ इतना कहना चाहता हूँ कि एक तो मैंने तुम्हारा वह वाक्य पूरा सुना नहीं—अगर सुनता, तो आज्ञा का उल्लंघन कदापि नहीं करता; दूसरा यह कि वह पत्र विश्वास-घात की दृष्टि से नहीं, बल्कि परिपूर्ण विश्वास की दृष्टि से लिखा गया था…लेकिन अब किसी सफाई की जरूरत नहीं रही…तुम्हारी इस घृणा को ही मैं प्रसाद समझूँगा…तुम सुखी रहो—बस, और कुछ नहीं…'

रमा ने यह सब सुना या नहीं—ठीक-ठीक कहा नहीं जा सकता; क्योंकि वह पत्थर की तरह निश्चल और नीरव रह गई।

उसका वह मायूस मौन ही जैसे कह रहा था :

'जाए—हाँ, चला ही जाए…'

उसी समय भयातुर-सी मिनिया दौड़ी आई और रमा के सामने खड़ी होकर—'तरुण' की ओर देखती, निहोरे के स्वर में बोली :

'अम्मा...सामी...चान...'

सुनते ही रमा की जड़ता जाने कहाँ गायब हो गई । उसने फाटक की ओर कम्पित चरण रखते उस अभागे को एकक्षण धुँधली दृष्टि से देखा; और, बेचैन होकर आप-ही-आप बोल उठी —'नहीं, ऐसा नहीं हो सकता—वह जा नहीं सकता...दौड़ो, मिनिया—दौड़ो...देखो—जाने न पाए...'

सुनना था कि मिनिया फुर्र से उड़ पड़ी; और, पलक मारते 'तरुण' की राह रोक कर आतुरता से कहने लगी :

'पिन्नम्मा ..सामी...पिन्नम्मा...'

'तरुण' ने भारी पलकें अनिच्छा से उठाईं तो उस नादान की ओर; परन्तु उसका पग बढ़ता ही रहा—जैसे बहरा हो—कुछ सुन नहीं रहा हो ।

हठात् मिनिया ने अपने दोनों हाथ फैला दिए; और, वह यों अड़ गई—जैसे सचमुच उसे आगे नहीं बढ़ने देगी ।

किन्तु 'तरुण' तब भी पग बढ़ाता ही रहा—जैसे अन्धा हो—ठेलकर चला जाएगा ।

यह देखकर मिनिया ने भी आँखें मूँद लीं और दीवार की तरह खड़ी-खड़ी, टकराहट की बाट जोहती, जोर से चिल्ला उठी :

'पिन्नम्मा...सामी...पिन्नम्मा...'

आश्चर्य—'तरुण' जरा भी नहीं झिझका और गहरी उपेक्षा से उसके हाथ को झटक कर वह आगे बढ़ गया ।

मिनिया उस झटके से तिलमिला उठी, लेकिन सहमी जरा भी नहीं—उलटे उछल कर फिर आगे आई और—ज्यों-की-त्यों दीवार बनकर लता-मण्डप की ओर आकुलता से देखने लगी ।

अबकी 'तरुण' ठिठका और गौर से देखकर उसकी ढिठाई पर चकित हो उठा । फिर तुरत झल्ला कर बोला :

'हट जाओ...नहीं तो...'

मन्द-मन्द मुसकुराती हुई अडिग खड़ी मिनिया कुतूहल से उसे यों देख रही थी—जैसे उसकी इस रुखाई को किसी क्षण पूर्व की कातरता से तौल रही हो ।

उधर 'तरुण' की झल्लाहट गुस्से में बदलती जा रही थी; और, लगता था—मिनिया को रौंदकर वह निकल जाएगा।

इतने में हाँफती हुई रमा आई; और—मिनिया उसको देखते ही भाग खड़ी हुई।

'तरुण' रमा को देखकर भी अनदेखा कर गया और फाटक की ओर कदम उठाता रहा।

रमा चकराई, लपकी—और, उसने 'तरुण' का हाथ पकड़ कर जोर से झटक दिया :

'देखते भी नहीं—कहाँ चले जा रहे हो अन्धे की तरह ?'

'तरुण' ने घूमकर गौर से उसे देखा और तिक्त स्वर में कहा :

'दयाकर—अब यह खेल बन्द कर दो—रमा...'

रमा हठात् ठिठक गई और अनजान-सी देखती बोली :

'खेल—कैसा खेल ?'

'यही—बच्चों की पतंग-बाजी...'

'पहले चलकर बैठो तो...फिर सुस्थिरता से बातें होंगी—' कहकर खींचती हुई रमा उसे लता-मण्डप में ले गई; ओर, चाहा—कि वह झूले पर बैठे—किन्तु 'तरुण' कुर्सी की ओर बढ़ गया।

लाचार रमा भी उसकी बगल में जा बैठी और दम लेकर बोली :

'अगर तुम इसे खेल समझते हो, तो यह अनादि खेल है—और, यही सृष्टि का मूल भी है। फिर तुम इससे भागते हो क्यों ?'

'बड़े बाप की बेटी को भले ही यह खेल न अखरे, पर अकिंचन के तो प्राणों पर ही आ बनती है।...सच पूछो—तो इससे तुम्हारा वह गुस्सा ही मुझे बहुत भाता है—जब तुम एक निपुण डाक्टर की भाँति नश्तर चलाकर मेरी चीर-फाड़ करने लग जाती हो...'

'अरे, गुस्से की बात को इतना महत्त्व देते हो...?

'गुस्से में ही तो नग्न यथार्थ के दर्शन होते हैं—सारे बनाव-चुनाव, सारे दुराव-छिपाव, सारी मुलम्मे-बाजी क्षण में उड़ जाती है; और, आदमी अपना असली

रूप देखकर हलका हो जाता है।···तुम्हारा वह उबलता-उफनता चेहरा मैं बहुत कम देख पाया हूँ; और, जब कभी वह सौभाग्य होता है, मुग्ध हो जाता हूँ।··· उस दिन प्लैटफार्म पर जब तुम उस कांस्टेबुल को चप्पल से पीटने लगी, मेरी छाती फूल उठी थी—यद्यपि उस दयालु ने मेरी जान बचाई थी !···सच्ची बात है—गुस्से में आदमी को आत्म-दर्शन होता है, अपने-पराए की पहचान होती है, गुण-दोष का गंभीर ज्ञान होता है और आदमी सत्य-स्वरूप भगवान् को भी पा लेता है...'

झेंपती हुई रमा ने कहा :

'तुम्हारी कविता और दर्शन मैं उतना नहीं समझती, पर व्यंग्य समझने में कोई भूल नहीं होती है···लेकिन, एक बात कहोगे—क्या तुम सचमुच चले जा रहे थे ?'

'तरुण' चुप हो गया और कुछ देर मौन रहकर धीरे से कह उठा :

'अगर कोई यही प्रश्न तुम से करे—क्या सचमुच तुमने मुझे दूर जाने का आदेश दिया था...?

रमा गम्भीर हो गई और डूब-उतरा कर बोली :

'जिसे तुम 'खेल' कहते हो, सोचती हूँ, तो वही यथार्थ जीवन जान पड़ता है। आज मेरे जीवन में जो खींच-तान है, जो तड़प-झड़प है, जो लालसा और लांछना है—सब के मूल में क्या वही खेल सत्य नहीं है ?···याद करती हूँ वह दिन—जब दुनिया को एक अनूठा खिलौना मानकर मैं अनजान बनी खेल रही थी– तभी तुम आए ; और, मैं चकित होकर तुम्हारी ओर देखने लग गई जैसे किसी भूले को पहचान रही होऊँ ···

'उस दिन से जाने क्यों मेरा मन दूसरे खेलों से एकदम उचट गया। तुम्हारी ओर देखना, तुम्हारे पास बैठना और तुम्हारे साथ बातें करना—बस, मन-प्राण को एकमात्र यही 'खेल' भाने लग गया···

'न मैं तुम्हारे कुल-शील से परिचित थी, न तुम्हारी जात-पाँत जानती थी, न तुम्हारी भाषा ही समझती थी। फिर भी धीरे-धीरे तुम मेरे जीवन में यों प्रवेश करने लगे, आत्मा में यों झाँकने लगे, हृदय को यों गुदगुदाने लगे—कि जो अपने थे, वे सपने होते चले—और जो कभी सपने में भी नहीं आया था, 'अपना'

बन गया...

'गुस्से में कह देती हूँ कि तुमने मेरा सर्वनाश किया; पर, सच बात तो यह है कि मेरे अनजान जीवन में जो वसन्त आया, वह तुम्हारा मुँह देखकर ही आया था। एक दिन ढोल बजा कर जो मेरी शादी हुई, उस दिन भी मेरी भौंचक दृष्टि तुम्हें ही ढूँढ़ रही थी। तुम्हारे आग्रह से ही मैं कभी-कभी उस अजीबो-गरीब के पास भी जा बैठती थी...

'और, जब वह उड़ गया, मेरी माँग पुँछ गई—और तुमने कहीं से आकर जब पेंसिल से एक लाल बिन्दी मेरे भाल पर बिठा दी, तब भीतर से पुलकित और बाहर से भीत होकर मैं तुम्हारा मुँह यों देखने लग गई थी—जैसे मेरा अन्तर ही मुझ से पूछ रहा हो—'कौन कहता है तुम सधवा नहीं हो ?...कौन खड़ा है यह तुम्हारे सामने...?'

युवक आकुल होकर बोला :

'मेरी उस मूढ़ता की बात कहकर मुझे जमीन में न गाड़ो—हाथ जोड़ता हूं।...जाने क्या सूझ गया था इस नादान को उस समय...'

रमा सहज भाव से कहती गई :

'और, जब अम्मा ने डरती-डरती पिताजी के कानों में बात डाल दी, तब रोष-क्षोभ के बदले जैसा उदार उद्‌गार प्रकट उन्होंने किया, वह मुझे कभी भूलता नहीं—'चिन्ता न करो, मेरी बिटिया अभी क्वाँरी है—रहने दो बिंदिया उसके भाल पर'...तब से मैं निर्द्वन्द्व होकर अपने को क्वाँरी कहने लग गई...

'और, एक दिन, जब तुम काम से कहीं चले गए और अरसे तक नहीं आए, तब अच्छे-से-अच्छे टीचर से भी पढ़ने में मेरा मन नहीं लगा। और, एक दिन झुंझला कर मैंने अम्माँ से कह दिया—किसी को पढ़ाना नहीं आता है—

'पिताजी को मालूम हुआ और वह चुपचाप मद्रास चले गए। कई दिन के बाद जब लौटे, तब भोजन करते हुए अम्माँ से उन्होंने कहा—कह दो; चिन्ता न करे ! मद्रास में उसके 'भाईजी' से भेंट हुई थी। मैंने आग्रह कर दिया है—दो-चार दिन में ही वह आ जाएँगे...

'मैं दूर से सब सुन रही थी। सुनकर ऐसी खुश हो गई, जैसे—'सूखत धान परा ज्यों पानी !'—कहावत ही चरितार्थ हो गई हो।

सुनते ही 'तरुण' आकुल आहें लेकर बोल उठा :

'अरे, उनका वह आग्रह ही तो सब आफतों की जड़ हो गया—न वह आग्रह होता, न मैं मद्रास छोड़ता...लेकिन उनका वह आग्रह तो टाला नहीं जा सकता था—इतना आदर था मेरे मन में उनके प्रति !'

रमा ने युवक की उस फालतू आह-कराह पर कोई ध्यान न दिया—वह अपनी तन्मयता के प्रवाह में पूर्ववत् बहती रह गई :

'फिर पढ़ाई के साथ-साथ जब मेरे बाहर-भीतर की प्रसन्नता भी अंचल उड़ाकर थिरकने लग गई—तब, तब घर-बाहर सबका हम दोनों के प्रति जैसा विशाल वात्सल्य, जैसा अपूर्व लाड़-प्यार उमड़ा—उसका वर्णन किन शब्दों के बल-बूते हो भला...'

सहसा युवक चमक उठा और पुलकित होते बोला :

'उस समय की एक छोटी बात याद करके अब भी कण्टकित हो उठता हूँ !...सम्भवत: 'दशहरा' का पर्व था। घर में कुछ उत्साह के साथ तैयारी हो रही थी। परन्तु मैंने अपने एक गरीब अनुरागी को वचन दे दिया था। इसलिए घर में किसी से कहे बगैर ही उस अकिंचन के घर मैं चला गया—और, जब शाम को लौटा, तब यहाँ जैसी मायूसी देखी, जैसा कटु-मधुर उपालम्भ सुना—अरे !'

रमा उछल पड़ी—जैसे एक नया दृश्य देखा हो, एक अनूठी बात कानों में पड़ी हो :

'अरे, उस दिन जो उदासी रही घर में—क्या कहूँ तुमसे !...अम्माँ ने हम दोनों की रुचि का ख्याल करके बड़े उत्साह और परिश्रम से, पूछ-पूछकर कई प्रकार के नए व्यंजन बनाए थे।...लोगों ने तैल-स्नान किया और नए कपड़े पहने। बड़े अनुराग से पूजा-पाठ चला। पिताजी तुम्हारे लिए भी अपनी पसंद से खादी की धोती-चादर खरीद लाए थे।...तैल-स्नान के समय नाई ने तुम्हारी खोज की, नहाने के समय गरम पानी करके मिनिया राह देखती रही, भोजन के समय पिता ने पूछा—अबतक नहीं आए...

'अम्मा को जैसी निराशा हुई, उनका मुँह जैसा लटका, जिस प्रकार वह कुनमुनाईं और बार-बार मेरी ओर देखकर जाने क्या-क्या कहने लग गईं—मैं तो काठ बन गई ! क्या कहती किससे भला—पर, भीतर-भीतर खूब कोसती रही

तुमको—कैसा हृदय-हीन है, कैसा नादान है, कैसा निष्ठुर है, त्योहार के दिन भी भला कोई घर छोड़ता है—सो भी बगैर कहे-सुने...'

'सचमुच उस दिन मैं ऐसा लज्जित हुआ, ऐसा संकुचित हुआ, अम्माँ का मुँह देखकर अपने-आप से ऐसा नाराज हुआ कि कई दिन तक खाने-पीने में कोई स्वाद न आया—लेकिन मेरी आत्मा खुश थी; क्योंकि—एक अकिंचन के आह्वान् को मैंने स्वीकार किया था...'

अन्तिम वाक्य सुनकर रमा हठात् गमगीन हो गई और शिथिल पड़ते स्वर में बोली :

'तुम्हारे चरित्र की वह विचित्रता मुझे उस बार बहुत खटकी थी। सोचा—जान-बूझ कर इस मूर्ख ने हमारे लाड़-प्यार को इस प्रकार क्यों ठुकराया ?...लेकिन, अब सोचती हूँ—यह तुम्हारी सहज निष्ठुरता है खुशहालों के प्रति। उनके प्यार में तुम्हें वह स्वाद नहीं मिलता, जो फटेहालों...'

युवक अचानक उठ खड़ा हुआ और उद्विग्न होकर बोला :

मेरा स्वप्न मत भंग करो, रमा—मेरी यों चीर-फाड़ करके। संकुचित आँखों का वह अकुंचित अनुराग उस समय मुझे अधिक आकर्षक जान पड़ा था—और, संभवतः वह आकर्षण मेरी प्रकृति की मूल-धारा में समाया हुआ भी हो, परन्तु...'

कहते-कहते 'तरुण' पुनः अपने उस सुनहले स्वप्न में खो गया :

'रमा—मेरे जीवन का सच्चा स्वर्ग वही था—अम्माँ का वह कातर प्यार, पिताजी का वह विमल विश्वास, उनके परिजन-पुरजन की वह अविरल श्रद्धा पाकर, तुम्हीं कहो,—उन दिनों मैं कैसा पुलक-प्रफुल्ल था सबकी उत्फुल्ल दृष्टि में...'

रमा की उदासी छूमंतर हो गई और अन्तर की उमड़ती उत्कंठा में सराबोर होकर उसने सानुराग कहा :

'अरे...कड्लोर जाकर जब तुम जेल में पिताजी से मिले थे, तब उन्होंने जैसा मार्मिक पत्र मुझे लिखा—उसका एक वाक्य तो अब भी झनझना देता है मेरे अन्तरतम को—'जबतक तुम्हारे 'भाईजी' घर में हैं, तुम्हारी चिन्ता मुझे नहीं सताती है—जाने किस जन्म की आत्मीयता हमें यों घेर रही है !'

यह सुनकर युवक एकाएक उदास हो गया और एक तिक्त कुण्ठा ने उसके समस्त उल्लास को जैसे निर्दयता से कुचल दिया हो :

'अरे, उस विशाल वात्सल्य और विश्वास का मैंने ऐसा विषाक्त बदला दिया...उन निर्भर नेत्रों में धूल झोंककर तो उनके कोमल कलेजे में छूरा ही भोंक दिया इस नमक-हराम ने...'

लेकिन रमा का ध्यान अपने उस नन्दन-कानन में था,—इसलिए वह अकुण्ठित ही बोलती रही :

'और, जब मैं उस खतरनाक बीमारी में पड़कर सैकड़ों मील दूर के 'सैनेटोरियम' में जाने लगी; और, जब एक राज-रोगिणी के साथ चलने को अपना-पराया कोई उत्सुक न दीखा—सभी कतराते ही नजर आए, तब किस सहज भाव से अपना झोला लेकर तुम हमारे साथ गाड़ी पर चढ़ गए थे ! जिसने देखा, वह अचरज से देखता ही रह गया—कौन है यह मूढ़—जो यों मौत का मेहमान होने चल पड़ा है ?...मैंने भी यह नहीं सोचा था कि ऐसे खतरे में, इतनी दूर—मरण-तीर्थ में तुम मेरा साथ दोगे—अपना सब कुछ भूलकर....

'कैसा था जीवन-मरण का वह सुखद झूला—याद करके अब भी पुलक-हिल्लोल पर चढ़ जाती हूँ... गई थी वहाँ मरण-त्योहार मनाने—घुल-घुल कर शून्य में बिलीन हो जाने, पर तुम्हारे साहचर्य ने सचमुच उस बयाबान को नन्दन-कानन में बदल दिया...'

बीच में ही कूदकर युवक बोला :

'कौन कहता है उसको मरण-मरुस्थल—वह तो मेरे लिए कला-तीर्थ बन गया था। वहीं मैंने मरण के मुख में जीवन-ज्योति को हँसते देखा था, क्रन्दन-कोलाहल के बीच वहीं मैंने अमर जीवन का मादक गान सुना था, वहीं मैंने कोमल कविता की गोद में सोई सुषमा का दर्शन किया था—जिसका सौरभ अब भी मुझे मतवाला बनाए रहता है...'

रमा को वह कविता सुनने की फुर्सत नहीं थी—वह तो अपनी ही धुन में पागल-सी कहती चली जा रही थी :

'दूर—वन-खण्ड में खड़ा वह निर्जन 'सैनेटोरियम'—और उसका वह

अनाकर्षक एक एकान्त कुटीर—जिसमें एक ही खुला बरामदा और पिछवाड़े में एक ही छोटा कमरा। आस-पास और कुछ नहीं—केवल खुला मैदान, खुला आसमान और खुली हवा। दूर-दूर पर जंगल-पहाड़—जहाँ से खुला पवन हिलोरें लेता चलता रहता था...ऐसे उन्मुक्त वातावरण में केवल हम तीन प्राणी—एक रसोई-पानी में लगी बूढ़ी माँ, दूसरी पलंग पर पड़ी, खाँसती और खून का वमन करती यह नादान, तीसरे थे हाथ में पंखा लिए, सिरहाने में कुर्सी पर बैठे, आतुरता से मेरे मुँह पर की मक्खियाँ उड़ाते अजनबी तुम...'

'तुम बीमार हो—यह तो सब कहते थे, पर मैं किसी रोगिणी के पास हूँ, इसका भान मुझे नहीं हो पाता था। तुम्हारे निर्मल नयनों में मुझे एक ऐसी दिव्य ज्योति के दर्शन होते थे, तुम्हारे कुसुम-कोमल अंग-प्रत्यंग से ऐसा मद-गर्भित सौरभ प्रवाहित होता जान पड़ता था, तुमको घेर कर चारों ओर से ऐसी प्रसन्न समीर-लहरी चल पड़ती थी, आकाश ऐसा निर्मल, सूरज ऐसा सुहाना और तारों-भरी रात ऐसी लुभावनी दीखती थी—कि देश-काल-परिस्थिति सबको भूलकर जाने मैं किस अलौकिक लोक में जा बसा था...'

•

रमा ऊब कर बोली :

'पहले मुझे कह लेने दो—मेरा स्वप्न मत तोड़ो—हाथ जोड़ती हूँ... सूने में चुपचाप पड़े अजगर की तरह उस निस्तब्ध 'सैनेटोरियम' के लौह-पलंग पर मैं बीमार पड़ी थी, मृत्यु के झूले पर चढ़ी थी, अकेली थी—लेकिन तुमने यह सब महसूस ही नहीं होने दिया मुझे। तुम्हारे भाव-विभोर नेत्रों से आनन्द का जो निर्मल निर्झर निरन्तर मुझ पर झरता रहता था, तुम्हारी अर्ध-स्फुटित वाणी में कविता-कहानी की जो रस-माधुरी बरसती रहती थी, तुम्हारे सुखद साहचर्य में जैसा शीतल समीरण चंचल हो उठता था—उसने मेरे नयनों में, मेरे प्राणों में, मेरे रोम-रोम में ऐसा स्वर्गोपम सौरभ लहरा दिया—जिसकी संजीवनी शक्ति ने मुझे देखते-देखते रोग-मुक्त करके एक अलौकिक राग-रंग से भर दिया... अरे, वे दमकते दिन, चमकती रातें, हड़हड़ाती हवा, गड़गड़ाती घटाएँ, उछलती अरुणिमा, मुसकुराती मधुरिमा—मेरे अंग-अंग में अनंग को नचाने लग गई... उस समय मैंने जिस अगम्य अनुराग से तुम्हें देखा—शायद उसी की वह परिणति

थी, जिसने—उस निस्तब्ध रात में आहट पाकर, स्पर्श पहचान कर भी, मुझे मौन रह जाने को लाचार कर दिया था...

'कौन कहता है—तुम लफंगे हो और मेरे साथ रास रचते हो?—उसका मैं मुँह नोच लूँगी—कलेजा फाड़ कर उसकी आँतें बिखेर दूँगी !...मैं जानती हूँ—तुम किस धातु के बने हो, मैं पहचानती हूँ—तुम्हारा चरित्र कैसा है !... अरे, जिसने मेरे उस मौत के मुँह में खिसकते घृणित शरीर को उस ममता-मोह से देखा—जिसको छूने में माँ-बाप को भी संकोच होता था—जिसके सिरहाने पंखा डुलाते जो रात-रात भर जगा रह जाता था, जिसने मेरे मुँह पर से मक्खियाँ उड़ाते, मेरे रुधिर-वमन को अपने रूमाल से पोंछते, हँसते-मुसकुराते, कविता पढ़ते, भावों का अभिनय करते, लाड़ से-दुलार से, प्यार से पुचकार के मेरी बीमारी पी ली; और, तन-मन से हृष्ट-पुष्ट करके मुझे नव-वसन्त में लाकर खड़ा कर दिया —उस मेरे जीवन-देवता को कोई 'अज्ञात-कुल-शील' कह कर कैसे अपमानित कर सकता ...

'अरे, मैं तो स्वयं महान् विस्मय में पड़ गई थी तब—जब नव-वसन्त के कसमसाते कुसुमों को कलेजे में छिपाए मैं करवटें बदल रही थी अपने सूने पलंग पर, और, सतत चौकन्नी रहने वाली मेरी माँ का पलंग भी बिलकुल हाथ-भर पर था, साथ ही वह मेरी जलन-शील जीजी भी कमरे का दरवाजा खोल कर खुर्राटे भर रही थी आमने-सामने—और हाथ की ऊँचाई पर बिजली का ऐसा बटन बैठा था जिसको छूते ही कमरे में झक्-झक् उजाला दौड़ पड़ता—उस गहरी निशा में, उन प्रखर प्रहरियों के बीच, जब सरकते साँप की तरह आकर चुपचाप मेरे मद-मर्मर शरीर से सट गया मेरा वह नव-जीवन-दाता—तब, जाने क्यों, मैं चौंकी नहीं; केवल कण्टकित होकर सिहरते हाथों उसे टटोलने और सहलाने लग गई यह सोचती—कैसा नादान है, कैसा अन्धा है, कैसा पागल है...जानता है—पास ही माँ है, बगल में ही खूँखार बहन है, बिजली है—फिर भी कैसा साहस, कैसा प्यार और कैसा अटल विश्वास इस नाचीज पर—जरा भी चिहुँकूँ और, इसका सर्वनाश ...तो क्या यह मेरा ही सर्वनाश करेगा, मेरे वर्जित बदन पर हाथ डालेगा—मेरा कुसुमित कौमार्य नष्ट करेगा ?...आखिर क्यों लुब्ध हुआ यह मेरा दिव्य-देवता—मेरे इस उन्मद रक्त-मांस पर ...

'एकदम सन्न होकर, बिलकुल दम साधकर, उछलते उरोज और धड़कते दिल को सारी ताकत से दबाए पड़ी रही साँसें गिनती—जाने अब क्या हरकत करता है यह पागल !...कह नहीं सकती—अगर कुछ करता भी, तो क्या मैं वर्जन करती—जाने कैसा ढुल-मुल, शिथिल-श्लथ होता जा रहा था मेरा अंग-अंग...

'किन्तु जब निमि-क्षण-पल पार करके मिनट भी बीतने लगे और उसकी ओर से कोई हरकत न हुई—वह केवल सरल शिशु-सा छाती से लिपटा रह गया, तब आश्चर्य—मैं मन-ही-मन कुढ़ने लगी—देवता है या पत्थर...'

'कौन कहता है—तुम लालसा-लोल हो...'

हठात् युवक खड़ा हो गया और हथेली से उसका मुँह बन्द करते गिड़गिड़ाने लगा :

'हाथ जोड़ता हूँ, पैरों पड़ता हूँ—यों मुझ कीड़े को सिर पर न चढ़ाओ। मेरा पाप अब किसी से छिपा नहीं—वह मेरा सबसे बड़ा पागलपन था—जिसका जहर तुमको पीना पड़ रहा है...'

रमा ने झिड़क कर उसका हाथ झटक दिया :

'कहने दो मुझे—जिससे मेरा जी कुछ हलका हो—बहुत कुचल दिया था तुमको क्रोध में आकर इस नादान ने...नहीं जानती—तुमसे कैसे उऋण हो सकूँगी इस जीवन में...इसी से जब तुम्हारा वह स्पर्श-सुख दिन-पर-दिन मुझे अवश करने लगा; और,जब उस सुख से छूटने की इच्छा भी लुप्त हो गई, तब सहसा 'समर्पण' का भाव जगा मेरे मन में और मैंने वह प्रस्ताव कर दिया...फिर कौन कहता है कि तुमने मुझे बर्बाद किया ?...सच पूछो—तो बर्बाद किया मैंने तुम्हें—मेरे कारण तुम जाने कहाँ-कहाँ मारे-मारे फिरे, कितनी बार मुझे...'

युवक फिर गिड़गिड़ा उठा :

'नहीं, रमा—मुझे आसमान में न फेंको; मैं उतना ऊँचा नहीं हूँ—बिल्कुल दुर्बल आदमी हूँ...लेकिन उस दिन जो साँप सरकता हुआ तुमसे सट गया था, उसका विष-दन्त मैंने तोड़ दिया था। वह केवल स्पर्श-लोभ से गया था—काटने नहीं। सच कहो, तो वह अपने प्यार की परीक्षा देने ही गया था ठीक भोला भाई होकर। और परीक्षा में पास करने पर उसे जो खुशी हुई थी...'

'प्रस्ताव के बाद से वह जाती रही—यही कहना चाहते हो न ?'

युवक चुप हो गया— न 'ना' कर सका, न 'हाँ'; और, युवती उस पर दृष्टि गड़ाए ही रह गई। बिना बोले कोई उपाय न देखकर बड़ी विवशता से उसने कहा :

'सच बात शायद तुम भी नहीं जानती थी—इसीसे वह प्रस्ताव कर बैठी। अन्तर्यामी ही जानता है कि मैं तुम्हारा 'भाईजी' ही बना रहना चाहता था— वह सुख ही मेरा स्वर्ग था। प्रस्ताव के बाद जाने क्यों वह स्वर्ग टूटता जान पड़ा; और, मैंने टटोल कर देखा तो···पति बनने की योग्यता अपने में मुझे कतई नहीं दीख पड़ी—कहाँ तुम और कहाँ मैं! मुझ में न रूप था, न विद्या थी, न धन था, न चरित्र ही—फिर मैं उस पारिजात को पाकर कैसे सम्हालता—उसे कहाँ रखता—कैसे रखता, कैसे तुम्हें प्रसन्न बनाता...'

रमा कुछ गंभीर होकर बोली :

'चरित्रवान् तो मैं तुम्हें जानती-मानती थी; क्योंकि, इसके प्रमाण की जरूरत मुझे न थी। विद्या तुम में कम न थी, इसकी परीक्षा भी मैं ले चुकी थी तथा-कथित विद्वानों से तुलना करके— जो मुझे पढ़ाने आते थे। धन की चिन्ता कभी नहीं उठी मेरे मन में; मैं धनवान् पिता की लाड़ली बेटी थी। किन्तु प्रस्ताव के बाद जब तुमने अपना सारा कच्चा चिट्ठा खोलकर रख दिया मेरे सामने, तब अनपेक्षित एक धक्का तो लगा, परन्तु उसे मानव की सहज दुर्बलता समझ कर मैंने सन्तोष कर लिया···

'तुम्हारे साथ मैं कहीं भी सुख से रह सकती थी, पर तुम्हारे उन आत्मीयों के साथ नहीं—जो मेरी दृष्टि में दुष्ट प्रतीत होते थे। इसीलिए मैं उनके सामने मौन रह गई थी···और जब तुमने मेरा 'समर्पण' स्वीकार कर लिया, तब मैं हलकी हो गई; क्योंकि, मैं अपने लिए ही भार बनती चली जा रही थी। इसीलिए जब तुमने तुरत पिताजी के पास चलने की बात कही, तो मैं अस्थिर हो गई—और, आग्रह करके मैंने तुम्हें रोक दिया। इसमें दो मुख्य कारण थे—एक तो मैं समर्पित भाव से कुछ दिन तुम्हारे साथ दीन-दुनिया को भूली रहना चाहती थी—जिससे चिर-क्षुधार्त प्राण कुछ तृप्त हों, दूसरा पिताजी के प्यार पर मुझे इतना भरोसा था कि तुमको बेदाग बचा लेना चाहती थी—इस चुनाव में तुम्हारी कोई चालबाजी नहीं है, मैंने स्वेच्छा से तुम्हें वरण किया है...अगर

तुम साथ जाते, तो बेदाग नहीं बच पाते।…मुझे इसका भी आश्वासन था कि तुम मेरे माँ-बाप के भी प्रिय-पात्र हो—किसी को कुछ अखरेगा नहीं…

'लेकिन हमारी घनिष्ठता उत्तरोत्तर ऐसी बढ़ी—कि घर के लोगों को अखरने लगा और आपस में काना-फूसी शुरू हो गई…मेरी पढ़ाई पूरी हो चुकी थी, फिर भी मैं तुम्हें कहीं जाने देना नहीं चाहती थी। जीजी की नजर तो उलटी रहती ही आई थी, अम्माँ भी चिन्तित हो उठीं और पिताजी अधिक उद्विग्न दीखने लगे…'

तरुण बीच में ही बोल उठा :

'मैंने उनके मुखड़ों पर वह चिन्ता पढ़ ली और एक दिन बिना तुम से कुछ कहे ही चुपचाप चल दिया—दूर—दूर ठेठ देहात में, जिससे तुम मेरा पता भी न पा सको।'

'बड़ी मुश्किल में पड़ गई—कैसे पत्र लिखूँ, कैसे बुलाऊँ?…आखिर लाचार मुझे तुम्हारे उन्हीं आत्मीयों को लिखकर तुम्हारा पता मँगाना पड़ा था। उस धूर्त भिक्षु से भी अनुरोध किया तुम्हारे पता के लिए—जिसे मैं अन्तर से घृणा करती हूँ…'

'और जब तुमने मेरे पत्रों का उत्तर न दिया; और, इधर घर-बाहर दूसरी तैयारी होने लगी, तब मेरी दशा दयनीय हो उठी—जैसे मैं चारों ओर से जलती ज्वाला में घिर गई होऊँ। एक ओर थी अपनी विवशता—तुमको छोड़कर दूसरे की संगिनी बनूँगी नहीं, दूसरी ओर से प्यार-पुचकार, लाभ-लोभ, डाँट-फटकार, के बीच विविध वेश-भूषा, विविध शकल-सूरत वाले बड़े-बड़े अभ्यर्थियों की दौड़-धूप—और, तीसरी तरफ तुम्हारी वह निर्मम चुप्पी।…सचमुच लगा—अब मैं गले में फाँसी लगा लूँगी या जहर खाकर सो जाऊँगी।…उसी भयानक स्थिति में धमकी के पत्र मैंने तुम्हें भेजे थे…'

युवक चिल्ला उठा :

'बाप-रे-बाप…वैसा भी कोई पत्र लिखता है किसी को—'अगर तुरत नहीं आओगे, तो मुझे जिन्दा नहीं पाओगे…' पढ़ते ही मेरा सारा संकल्प हवा हो गया—और, मैं दूसरी गाड़ी से दौड़ पड़ा।

रमा ने सुख की साँस लेकर पुतलियों को उछालती कहा :

'हृदय जोरों धड़क रहा था भय और भीति से—तुमने नाता तोड़ लिया, अब नहीं आओगे—मेरी पुकार अरण्य-रोदन हो जाएगी—जहर खाने के सिवा दूसरा कोई चारा नहीं रहेगा मेरे लिए...लेकिन, जैसे ही मैं दालान से निकल कर बरामदे पर आई—और, जैसे ही मेरी दृष्टि कुर्सी पर चुपचाप बैठे तुम पर पड़ी—क्रोध-क्षोभ, आँसू-उच्छ्वास, लाड़-प्यार के मिश्रित भाव मेरे हृदय में एक साथ ऐसे उठे कि मैं चकित रह गई—समझ में नहीं आता था कि क्या करूँ...दौड़कर मुँह नोच लूँ या छाती से लगाकर ऐसा कस दूँ—कि तुम्हारे प्राण भी पिस जाएँ—या तुम्हारे बाहु-पाश में बद्ध होकर इतना रोऊँ—कि दोनों उस अश्रु-धारा में बहकर जीवन-सरिता के उस पार पहुँच जाएँ...'

उच्छ्वसित होकर युवक ने उसका समर्थन करते कहा :

'यथार्थ ही उस समय का तुम्हारा वह अवलोकन अगम्य था। क्षण-क्षण में रंग बदल रहा था और मैं असमंजस में पड़ता जा रहा था। मेरे मन में एक ही बात जोर मार रही थी— 'आ गया हूँ—पर अब आगे कदम नहीं बढ़ाऊँगा...न दालान में सोऊँगा और न एकान्त में तुम से बातें ही करूँगा...'

रमा अपनी ही उधेड़-बुन में पड़ी हुई थी—सुनकर भी जैसे उसने कुछ नहीं सुना—और, अपनी बात कहती गई :

'भावों का बवण्डर जब कुछ शान्त हुआ, तब कृतज्ञता और कृतार्थता से उमड़कर जब तुम से कुछ बोलने गई, तब तुमने ऐसा मुँह बना लिया—मैं किं-कर्तव्यविमूढ़ बन गई...धीरे-धीरे मेरे अन्दर की मदमाती रूपसी ने मुझे धिक्कारा और मैंने सदर्प निश्चय किया—आज इस भगोड़े को ऐसा बाँधूँगी, कि फिर यह कभी छूटने का नाम भी न ले...'

'इसी भय से मैंने अपनी खाट बरामदे पर बिछवाई थी आग्रह के साथ, परन्तु...'

'जब मैंने यह देखा, तो मिनिया को ऐसा डाँटा कि...'

'वह दौड़ी आई और लाख मना करने पर भी खाट उठाकर ले भागी। फिर भी मेरा निश्चय अडिग था—मैं बरामदे की बेंच पर ही सो जाऊँगा...'

'लेकिन मेरा भी दर्प बोल रहा था—'देखना है, कौन अडिग रहता है...ऐसा ही विरक्त बाबा बना रहना था, तो दौड़े आए ही क्यों ?'

'और जब तुमने आकर सोए हुए को जगा दिया, तब मैं भौंचक रह गया—न चिल्ला सकता था, न चुप लेटा ही रह सकता था। समझ गया—आज यह भूमंडल डोलेगा...'

'मेरा भी निर्णय था—जब मरना ही है, तो मंगल-मुहूर्त मनाकर क्यों न मरा जाए...'

सहसा लता-मण्डप में एक जोर की लात लगी और सारा वन-उपवन तीखे तीरों से जर्जर हो उठा :

'भ्रष्टे—मर गई होती, तो कुल-परिवार बच गया होता...पाप-कथा कहते अघाती नहीं है अभागिनी...एक को खाकर बैठी...अब दूसरे को जहन्नुम भेजेगी—और सारे कुल-परिवार का मुँह काला करेगी...नरक के कीड़े...'भाई-बहन' में यह मंगल-मुहूर्त...डूब क्यों न जाती है चुल्लू-भर पानी में...आने तो दे जरा उस ऊँची पगड़ी को...देख—फिर कैसा मजा चखा...'

अन्तिम शब्द अस्पष्ट ही रह गया; क्योंकि,—मिनिया दौड़ी आई और जल्दी-जल्दी कहने लगी :

'चान...सामी...चान...'

'चान' का अर्थ वह समझता था—अर्थात् 'तरुण' से वह स्नान करने का अनुरोध कर रही थी।

मिनिया को देखते ही वह ध्वनि-धारा हठात् जाने कहाँ विलुप्त हो गई—और, ये दोनों गुनहगार खोए-से उस ममता-मृगी का मुँह देखते रह गए...

कुछ न समझ कर वह भोली अनमनी-सी भाग गई उस कामिनी-कुंज की ओर।

दूर सागौन के मौन पेड़ों पर दृष्टि दौड़ाते युवक ने सर्द साँस छोड़ कर कहा :

'वर्जित फल चखने से भ्रष्ट होना ही पड़ता है—अदन के बाग में आदिम नर-नारी को भी इसका कड़वा फल चखना पड़ा था!'

'किन्तु मैं तो न इसे 'वर्जित' समझती हूँ, न अपने को 'भ्रष्टा' ही

मानती हूँ--'

'फिर यह अनुताप, और—यह लांछना...'

'हाँ, उस अमर-निर्झर को हम सामाजिक धवल धरातल पर नहीं उतार सके—अपराध यही हुआ हम दोनों से।'

अपने को अन्दर से निरपराध मानते हुए भी युवक उसका प्रतिवाद न कर सका—केवल मन-ही-मन गुन-धुन करता रह गया।

रमा उसके मौन का अर्थ समझ कर ही कहने लगी :

'उसके बाद तो कुछ दिन मैं उस अनूठी अनुभूति में ऐसी आत्म-विस्मृत रही—कि देश, काल और करणीय —कुछ भी याद न रहा...

'कैसे कहूँ – कि मैंने कोई पाप किया ?—जो कर्म आत्मा को इतना सुख दे सकता है, इतना विस्मृत बनाए रख सकता है--जीवन को सब ओर से खींचकर, समेटकर इतना परिपूर्ण कर सकता है, इतना झन-झन बजा सकता है, इतनी उज्वल मादकता उसमें भर सकता है —उस कर्म को कोई 'कुकर्म' की संज्ञा कैसे दे सकता है—'तरुण' ?...'

'तरुण' केवल आश्चर्य से उसका मुँह देखता रह गया।

तरुणी अपनी नैया खेती रही उसी नशे में :

'इस लता-मंडप में भी मैंने तुम्हारा साहचर्य-सुख पाया था, 'सैनेटोरियम' का सुख भी कुछ अनूठा था—जैसे कोई भजन-कीर्तन में झाँझ-मृदंग पर झूल रहा हो !...पर समर्पण का वह सुख तो सबसे निराला था—जैसे दो धाराएँ उमड़ कर, उछल कर, अस्तित्व-शून्य हो जाएँ !...और उस शून्यता में जाने एक कैसी अनोखी दुनिया आ बसी थी मेरे रोम-रोम में !—लेकिन...'

'फिर यह—'लेकिन'—क्या...?'

'हाँ, हम उस दुर्लभ दुनिया को आबाद न रख सके...'

'क्यों न रख सके—उसका सम्पूर्ण भार तो तुमने ..'

'हाँ, मैंने अपने ऊपर ही लिया था...मगर—कुछ दिन तो मगन मन से मगन ही निहारती रह गई; और, जब कुछ होश आया, तब बैंगलोर जाना निश्चित हुआ। सोचा —चलो, वहीं आर्य-समाज के मन्दिर में होम-हवन के बीच परस्पर

माला पहना दी जाएगी—और, तार द्वारा पिताजी को सूचित कर दिया जाएगा। कार्य-क्रम निश्चित था, परन्तु मेरे दुर्दैव को वह मंजुर न हुआ—और, मैं अचानक अस्वस्थ हो गई।... सोचा—दो-चार दिन में ठीक हो जाऊँगी। किन्तु जब हालत सुधरने के बजाय बुरी तरह बिगड़ चली, तब तुम्हें पत्र दिया, तार किया—फिर भी तुम नहीं आए...'

युवक ने आहत-मन से आत्म-रक्षा करते कहा :

'दवा तो मैंने भेज दी थी तुरत, मगर मैं आ नहीं सका। क्योंकि—उस समय...वह बीमार थी—मेरी वह—आत्मीया...'

'रमा का मन दवा और आत्मीया की चर्चा से जाने कैसा मिचला उठा—और, उसने कड़वी विरक्ति से कहा :

'उसी दवा ने तो मुझे रक्त-स्राव में डाल दिया—और, मेरी जीवन-ज्योति बुझने लग गई...'

युवक ने घबराहट के साथ कहा :

'दवा के बारे में मुझे कोई जानकारी न थी; मेरे मित्रों ने कुछ शंका तो अवश्य प्रकट की, परन्त तुमने आग्रह किया था—इसलिए मैंने जल्दी में उसे भेज दिया—कि तुम सोच-समझ कर लोगी।'

'मैं क्या जानती थी—एक सहेली ने सुझाया—और, मैंने तुम्हें लिख दिया। पीछे जब 'मामी' को मालूम हुआ, तो उसने मुझे बहुत कोसा...'

'क्या असर हुआ उसका ?'

प्रश्न सुनकर रमा चुप हो गई और कुछ देर के बाद गर्दन उठाकर यों बोली—जैसे कोई गहरे पानी में डूबकर उतरा उठा हो :

'अरे, उसीने तो मेरी आशा और अभिलाषा का अंकुर तोड़ दिया—उसीने मेरे जीवन को सब ओर से निस्सार और निराश करके मौत के मुँह में ढकेल दिया। इसी लिए तो मैंने उस दिन गाड़ी में कहा था— 'सजा दो मुझे, मैं अपराधिनी हूँ—मैंने तुम्हारी पवित्र अमानत में खयानत कर दी है...'

'लेकिन वह तो तुम्हारा नहीं—मेरा अपराध था, रमा—सजा तो मुझे मिलनी थी; और—मौत के मुँह में जा पड़ी तुम...नारी-जीवन का सबसे बड़ा

अभिशाप यही है, रमा—अपराध किसी का...और दण्ड किसी को !...सचमुच मैंने तुम्हें नरक में डाल दिया—इसका प्रायश्चित्त मुझे अपने रक्त से करना होगा...'

कहते-कहते युवक तमतमा कर कुर्सी से उठा—और, जेब से एक बड़ा चाकू निकाल कर हवा में चमकाने लग गया।

रमा ने भय और विस्मय से उसका वह नृशंस रूप देखा—और, वह चकित होकर बोली :

'यह क्या कर रहे हो ?'

'खून का बदला खून से देने जा रहा हूँ।'

कुछ न समझकर रमा ने आँखें तरेर दीं :

'खून—किसका—मेरा...?'

'हाँ, खून—अपराधी का खून... !'

रमा का भय एकाएक जाने कहाँ गायब हो गया। वह झट उठ खड़ी हुई—और, पागल-सी अपने उन्नत वक्ष पर से अंचल उड़ाती आगे आकर गिड़-गिड़ाने लगी :

'सबसे बड़ी अपराधिनी खड़ी है तुम्हारे सामने, जिसने सन्मार्ग छोड़ा, तुमको बर्बाद किया और कुल को कलंकित किया—लो, भोंक दो वह चाकू—जिससे यह पापी प्राण...'

देखते ही युवक की आँखें लाल हो उठीं और ललाट पर कुछ कुंचित रेखाएँ खिंच गईं। भौंहें तानकर, दाँत पीसकर और होंठ चबाकर वह बोला :

'हट जाओ सामने से...अभी मैं अन्धा हूँ...जाने क्या कर बैठूँ—अपराधी का खून पीने दो जी-भर...'

रमा ने और नजदीक आकर निर्भीकता से कहा :

'अपराधिनी तो छाती खोले खड़ी है—भोंकते क्यों नहीं यह छूरा उसके सीने में—वैतरणी पार हो जाए यह अधम...'

पागल ने आव देखा, न ताव—और, जोर का एक ऐसा धक्का दिया उसके

सीने में—कि वह अबला धड़ाम से जा गिरी कालीन पर …

देखते-देखते युवक का वह कातिल हाथ ऊँचा उठा—और वर्तुल होता छाती की ओर घूमा ही था—कि इतने में कोई बिजली की तरह छिटकी और पलक उठाते ही उस पागल की छाती से चिपक गई—दोनों बाँहें फैला कर…

लेकिन प्यास से अन्धा बना वह चाकू तबतक जाने कहाँ जाकर खच से बैठ चुका था …

खूनी की बन्द आँखें, सहसा एक सुखद धक्का खाकर, खुल पड़ीं; और, उसने अचंभे में आकर देखा—छाती में न छूरा था और न रमा ही; थी वह वेगुनाह मिनिया—जिसकी पीठ का रक्त चुपचाप वह चाकू निर्ममता से पी रहा था… और झूले के नीचे, कालीन पर औंधी पड़ी, सिसक रही थी—रमा…

युवक के प्राण नखों में समा गए—'यह क्या हुआ ?—पापी के बदले यह चाकू एक मासूम का लहू पी रहा है…और वह वेचारी उसे कसकर भर-पाँज पकड़े हुए भी है…लेकिन आश्चर्य—न चीखती है, न चिल्लाती है—कैसी अस्सब…'

इतने में रमा ने सिर उठाया—और, देखकर आँखें मल ही रही थी—कि युवक चिल्ला उठा :

'आँखें क्या मल रही हो—उठो, भागो—जल्दी मरहम-पट्टी लाओ…मैं चाकू खींचता हूँ…'

धड़फड़ाती उधर रमा भागी, इधर युवक ने जी कड़ा करके चाकू खींच लिया उसकी पीठ से।…मिनिया छिहुली—और, फव्वारे की भाँति ख़ून की धारा फूट पड़ी। नादान ने दर्द से ऐंठकर हत्यारे की छाती में मुँह छिपा लिया…

युवक घबरा गया। उसने झटपट अपनी हथेली रख दी उसकी पीठ पर—और, खूब जोर से जाँत दिया…

मिनिया न चीखी, न चिल्लाई—सिर्फ एक अबोध शिशु की तरह चिपकी रह गई क़ातिल के कलेजे से …

मरहम-पट्टी के साथ इधर हाँफती हुई रमा पहुँची—और, उधर दबे-पाँव, कुतूहल से नजर दौड़ाती, आ खड़ी हुई वह—ज्वाला…

मरहम-पट्टी होते देखकर एकाएक वह भभक उठी :

'रास-लीला के बाद यह रक्त-लीला—एक बेगुनाह की पीठ में यह छूरा !…बुला बाप को, मिनिया—पकड़ ले जाए इस गुण्डे को—पुलिस में…'

सुनते ही रमा की आँखों में एक अजीब रंग छा गया। पट्टी बाँधकर वह चुपचाप उठी—और, चाकू उठाकर शान्त स्वर में बोली :

'देखो—जीजी, दुनिया की दृष्टि में हम पापी हो सकते हैं, परन्तु तुम्हारी नजरों में तो हर्गिज नहीं।…तुम्हारे उस 'शंकर' की तरह यह मुझे कहीं उड़ा तो नहीं ले गया था; और, न मैं ही इसके पीछे-पीछे तुम्हारी तरह भागती-फिरी थी शहर-बाजार—जिसके कारण पिताजी की ऊँची पगड़ी गिर पड़ी थी 'तपोधन' के पैरों पर।…अरे, यह मेरे बचपन का साथी है—और तुम देखती भी आई हो कि मेरा कैसा प्यारा है !…मैंने दुनिया से आँखें मोड़कर इसको प्यार किया है—और, इसीको अपना जीवन-संगी चुना है।…तुम्हें मेरा सुख-सुहाग जैसा भाता है, तुम जिस रूप-रंग में मुझे रखना चाहती हो, कम-से-कम मुझ से तो वह छिपा नहीं है। पिताजी ने मुझे 'क्वाँरी' कहा, पर तुम बराबर मेरे कानों में जाने क्या क्या भरती रही। माथा मुड़ाकर, भभूत मलकर, माला लेकर, भूख-प्यास मारकर मैं योगिनी क्यों न हुई, राज-रोग से भी क्यों बच गई—इसका तुम्हें मलाल है !… अच्छा, मैंने जीवन को कलंकित किया है, कुल-परिवार का मुँह काला किया है, लो लो—यह चाकू और मेरी छाती में इसे घुसेड़ दो—जिससे सब का मुँह उज्ज्वल हो जाए।…और, अगर साहस नहीं होता है, तो फिर देखो…'

इतना कहते-कहते उत्तेजित रमा ने चाकू अपनी छाती की ओर घुमाया ही था—कि 'तरुण' ने उछलकर उसके हाथ से चाकू छीन लिया—और, नागम्मा की ओर घूमकर बोला :

'धर्म-चारिणी बहन—पापी मैं हूँ;—और, मरने को बेजबर हूँ।…लेकिन, अभी यह चाकू नहीं भोंकूँगा—पहले तुम पुलिस को बुला लो। उसी के सामने यह पापी मरेगा—जिससे तुम्हारे हाथों में हथकड़ियाँ न पड़ें…जा—मिनिया—

जा...बाप को बुला ला...'

मामला संगीन हो उठा। सहसा सब को काठ मार गया—और, सब एक-दूसरे को पत्थर की मूरत-सी देखने लगे। नागम्मा का मुँह तो ऐसा स्याह होता जा रहा था—जैसे किसी ने राख झोंक दी हो। रमा थरथर काँप रही थी और भय-विह्वल दृष्टि से युवक को देख रही थी।

हठात् वह ज्वाला झुकी—और, मिनिया को उठाकर झटपट खींच ले गई—महल की ओर।

'हठात् यह क्या सूझा तुमको ?'

'नहीं, अब मैं जीना नहीं चाहता...'

'यही है तुम्हारा ज्ञान-ध्यान ?'

'सो होता, तो यह दुर्दशा ही क्यों होती ?...और, यह तो कहो—तुमने जीजी की सीवन क्यों उधेड़ दी भला ?'

'सहन करने की भी एक सीमा होती है...कलमुँही...कोखजली...'

व्यथाघात को न सहकर युवक ने उसे पास खींच लिया और अनुताप से गल कर बोला :

'बैंगलोर न जाकर मैंने बड़ी गलती की—तुम मरण-शय्या पर पड़ी थी और मैं कुटिया में मुँह छिपाए था—ऐसे अधम को अब जीकर क्या करना है ?... तुम अब भी मेरा मुँह क्यों देखती हो—समझ में नहीं आता है...'

रमा ने आह लेकर कहा :

'नारी जब अपने को आप नहीं समझ पाती है, तब दूसरा उसे क्या समझेगा ?...क्या सती, सीता, सावित्री, शकुन्तला और राधा ने अपने को समझा था ?...फिर हम नादान भला क्या समझें उस अगम रहस्य को ?'

'मुझे तो लगता है, उन सब के कष्टों का एक ही कारण था—'अज्ञात-कुल-शील' के साथ उलझ जाना...'

यह सुनकर, मर्मान्तिक कष्ट में भी, रमा के मुख पर एक इन्द्रधनुषी मुस-कुराहट फैल गई—और, उसने दबी-जबान एक गूढ़ बात कह दी :

'और कुछ समझ में आए या न आए, पर उन्हें अपने पुरुष के पराक्रम की पहचान अवश्य थी। समर्पण-मात्र से वे सन्तुष्ट थीं—वरण या हरण के भार से बिलकुल उन्मुक्त। उन्हें निश्चय था—कि जैसे भी होगा, वह पराक्रमी उनको अपने पास खींच ही लेगा। समर्पित जीवन सचमुच एकांगी हो जाता है— अपने को भूलकर दूसरे को ही देखने लग जाता है।'

'वैसा सौभाग्य तुम्हारा न हो सका—यह कापुरुष सब भार तुम पर डाल कर हमेशा भागता ही फिरा...'

रमा क्षण-भर चुप रह गई। फिर मर्म-भरी दृष्टि से देखकर बोली :

'यह झूठ नहीं है—कि अगर तुम उस समय पराक्रम दिखाकर मुझे उठा ले जाते पिताजी के पास—तो आज यह सब दृश्य तो नहीं खड़ा हो पाता !...जैसे प्रसव-काल में नारी को कैसी कड़ी वेदना झेलनी पड़ती है, किन्तु उसके बाद किसी को कुछ याद रहता है क्या ?...मैं भी उस समय कुछ झुंझलाती-झल्लाती, डाँट-डपट भी करती—पर आज की समस्त पीड़ा से तो पार हो जाती।... लेकिन वैसा पराक्रम दिखाना तो दूर रहा—बुलाने पर बैंगलोर भी नहीं आ सके...'

बात सोलह आना सच्ची थी, मगर दर्दीली और चुभीली भी वैसी ही थी। युवक गहरी चिन्ता, शरम और अवसाद में पड़ गया। प्रारम्भ में एक-दो बार वैसा कुछ जोश आया भी था, पर रमा से कोई प्रोत्साहन न पाकर वह ऐसा ठंढा पड़ा—कि फिर कुछ करना है, इसकी कल्पना भी मिट गई उसके मन से।...बैंगलोर जाना कितना जरूरी था; दोनों काम हो जाता वहाँ—रस्म-अदाई हो जाती; और, तपोधन से आशीर्वाद भी प्राप्त हो जाता। लेकिन इस बुद्धू को तो जैसे मूर्च्छा ही मार गई—कुटिया से निकल ही नहीं सका ! निश्चिन्त लेटा रहा—जैसे सोए-सोए में कोई रसाल आम उसके मुँह में निचोड़ देगा और वह अलसा कर धीरे-धीरे घुटक भर लेगा...सचमुच पुष्पित नारी केवल प्रेम की कोमलता पर ही नहीं रीझती है, अपने प्रियतम में पौरुष-पराक्रम की कठोरता देखने की कसमसाहट भी उसमें बड़ी तीव्र होती है। इस वसुन्धरा की तरह नारी भी वीर-भोग्या ही होती है।...हाय—वैसी कोई वीरता वह नहीं प्रकट

कर सका इस समर्पिता के सामने···

'तरुण' के मन के भावों को जैसे पढ़कर ही रमा बोल उठी :

'प्रेम से अधिक अनेक बार तुम्हारे पराक्रम ने मुझे प्रबलता से आकृष्ट किया था···अभिनय से मुझे सख्त नफरत थी, लेकिन 'फ्रूट गैदरिंग' में जब तुमने जबर्दस्ती मुझे रानी का रोल दे दिया, तब आना-कानी करती हुई भी मन में कैसी रीझ उठी थी तुम पर···भीड़ में खड़ी होकर कुछ बोलना भी मुझे कतई पसंद न था, लेकिन जब एक दिन तुमने हठ-पूर्वक 'राष्ट्र-पुरुष' के अभिनन्दन-समारोह में खड़ा कर दिया, तब झिझकते हुए भी कितना उल्लास हुआ था मेरे मुग्ध मन में—और, मेरी वह कृतार्थता किस तरह तुम्हें घेर कर नाचने लग गई थी ! तैरने से शौक था, पर 'स्वीमिंग पूल' में ऊँचे तख्ते से कूदने वालों को मैं हैरत और भीति से ही देखती आई थी—पास जाने की हिम्मत कभी नहीं कर सकी थी । किन्तु एक दिन जब तुम जबर्दस्ती मुझे खींच ले गए उस ऊँचे मंच पर—और, निर्ममता से ढकेल दिया अथाह पानी में···अरे, तब मैं कितनी पुलकाकुल हो उठी थी···समुद्र की लहरों में उछलना-कूदना भी मुझे तुमने ही धड़-पकड़ कर सिखाया था।···और, जब तुम मेरी रक्षा के लिए उस 'शार्क' की चपेट में आ गए; तब तुमने जैसा अतुल कौशल दिखाया और जिस तरह सकुशल निकल आए—उस समय की मेरी कृतज्ञता क्या उस 'समर्पण' में नहीं झाँक रही थी ?···'सैनेटोरियम' की चाँदनी रात में, जब तुमने ऐंड़ रहे उस विशाल विष-धर का सिर अकेले ही कुचल दिया था बाँस के एक छोटे डंटे से, तब मेरे प्राण कैसे तड़प उठे थे तुम्हारे प्राणों में मिल जाने को···और—कावेरी की उस बौख-लाई बाढ़ में जब हमारी नाव चक्कर काटने लग गई—और जब मैं छाती पीटकर हाहाकार कर उठी थी, तब तुमने किस पौरुष का प्रदर्शन करके मुझे अपनी पीठ पर लाद लिया; और, किस प्रकार ऊबते-डूबते खींच लाए किनारे पर—क्या समर्पण के उस दर्प में मेरा वह गर्व तुमने नहीं देखा था ?···लेकिन इन सबके बावजूद तुम असली मौके पर चूक गए—कठोर होकर पिताजी के सामने मुझे खींच नहीं ले गए ! क्या तुमने नारी-हृदय की इस अगम्य अभिलाषा को कभी पहचाना ?'

युवक ने चमत्कृत होकर अकुण्ठित स्वर में कहा :

'नहीं, रमा—वैसा मैंने कभी सोचा ही नहीं। इस विषय में बिलकुल कोरा हूँ मैं···और, जब से तुम्हारा वह दुर्निवार 'दर्प' देखा, तब से तो और भी निश्चिन्त हो गया।···हाँ, बीमारी को उतना महत्त्व नहीं दे सका, इसे मैं भयंकर भूल मानता हूँ···धन्य वह मामी—जरा उसकी बात मुझे खोलकर सुनाओ, जिसने तुम्हें मौत के मुँह से बचाया—मैं उसकी चरण-धूलि सिर पर चढ़ाना चाहता हूँ।'

मामी की बात सुनते ही रमा एकाएक ध्यानस्थ-सी हो गई—चुप, शान्त, सुस्थिर। फिर धीरे-धीरे पुलकित होते कहने लगी :

'मामी की कथा क्या कहूँ तुमसे। लगता है, वैसे ही सरल जीवों की साँसों पर यह कुरूपा धरती ठहरी हुई है—न तो कब-न-कब रसातल पहुँच गई होती।··· वह मेरी कोई नहीं है—न कुल की, न जाति की; न नाते की, न रिश्ते की। यों ही प्यार से मैं उसे मामी कहने लग गई थी। एकदम अनगढ़ और अनपढ़। एक साधारण व्यापारी की पत्नी। लेकिन आत्मा उसकी एकदम असाधारण।...जिस प्रकार किसी युग में सीता ने समर्पित भाव से जीवन की समग्रता में राम को अपनाया था, और जिसके बल पर ही—शेष जीवन में अशेष रोकर भी—वह अन्दर से पुलकित रह गई थीं, जिसके बल पर ही रावण के दुर्गम-दुर्ग में बन्द रहकर, प्रबल प्रलोभनों को कुचल कर, प्रचण्ड असि-झंकार के सामने भी वह निर्भीक तन-मन से अपने राम की रट लगाए रह गई थीं—वैसे ही अविचल आत्मा के दर्शन हुए मुझे उस सरला मामी में—और, एकदिन तलमलाती हुई जब मैं जा गिरी उसकी खाट पर—और, आँचल से मुँह लपेट कर दर्द और दाह से कराहने लग गई...'

कहते-कहते लम्बी साँस लेकर रमा ने युवक की ओर देखा और उसकी तन्मय-मुद्रा से प्रसन्न होकर फिर कहना शुरू किया :

"मुँह खोलकर मैंने उससे कुछ नहीं कहा—केवल पेट पकड़ कर ऐंठती-जुठती रही।...जाने कैसे उसने मेरी पीड़ा का सारा मर्म जान लिया, और फिर यों चिपक गई मेरे तन-मन से—जैसे मेरी पीड़ा को वह एक साँस में ही पी जाएगी। ...हटाने से, हाथ जोड़ने से, मुँह पकड़ने से भी मेरे पास से टसकने का वह

नाम न लेती थी। उसका हाथ बराबर कभी मेरे पेट पर तो कभी पीठ पर, कभी माथे पर तो कभी पैरों पर घूमता ही रहता था...और, जब मैं पीड़ा—ओह, कैसी प्राणान्तक थी वह पीड़ा—से कराह उठती थी, तब माता की आकुलता और पिता की आतुरता से अपनी गोद में समेट कर मुझे यों पकड़ लेती थी—जैसे सचमुच मेरी पीड़ा को पी रही हो! और, आश्चर्य—यों दबोच लेने पर मैं हलकी हो उठती थी...और, जब अंजर-पंजर तोड़कर वह रक्त-स्राव शुरू हुआ, तब तो उस बेचारी के प्राण ही सूख गए और व्याकुल होकर बोली—कैसी भयानक दवा खाली थी, बेटी—ऐसी गलती भी कोई सज्ञान करता है, विधाता के वरदान को भला यों ठुकरा देता है...कौन है वह मूढ़—जिसने ऐसी दवा दी तुमको ?...'

युवक सुनता था और सिहरता जाता था; फिर भी सुनने का लोभ छूट नहीं रहा था उसका! जरा भी रमा दम लेती, तो वह बच्चों की भाँति बेचैन हो जाता था—कहो—कहती जाओ।

रमा कहती रही :

'कैसा था वह रक्त-स्राव—जैसे अनन्त आँतों को क्रूरता से ऐंठ कर अन्तर के समस्त रस को कोई ईख की तरह निचोड़े चला जा रहा हो...मगर, धन्य थी वह मामी—जो जाने कैसे मुझे उठाती थी, कैसे बिठाती थी, कैसे सम्हाले चली जा रही थी—अकेली!...कोई सुध न थी मुझे—कभी-कभी उस बेसुधी के आलम में ही—जाने क्यों 'सैनेटोरियम' झलक उठता—और, कुर्सी पर सिरहाने बैठे तुम दीख जाते...सोचती हूँ—वही वह सूक्ष्म तत्त्व था, जिसने मुझे मरने नहीं दिया—और, नरक से उबार लिया...'

युवक ने मुँह बिचका कर कहा :

'तो क्या—अभी स्वर्ग में आ गई हो ?'

'तुम्हारे साथ नरक भी स्वर्ग बन जाता है...नहीं कह सकती—स्वर्ग और नरक में इतनी कम दूरी क्यों होती है...और, इतना द्रुत परिवर्तन हो क्यों हो जाता है दोनों में...?'

'मुझे तो आश्चर्य यही है—कि इतनी कविता के बीच वह कमजोरी कहाँ छिपी थी—जिसने पिता के सामने जाने नहीं दिया—और, मामी के साथ रहने

पर भी सत्यधन के सामने यों प्रकट हो गई—असत्य बनकर

रमा को एक जोर का धक्का तो जरूर लगा इस प्रश्न से, परन्तु अन्तर को सहलाती हुई भी वह सुस्थिर स्वर में ही कहने लगी :

'सबसे बड़ा संकोच मुझे यही जकड़े था—कि यह बात लेकर कैसे जाऊँ पिता के पास ?...जाने क्या सोचने लग जाएँ—कहीं एक प्रश्न-चिह्न न खड़ा हो जाए उनकी चकित और व्यथित आँखों में—'क्या यही चरित्र है मेरी इस लाड़ली का ?...जिसे 'भाईजी' कहती थी, जो इसका विद्या-दाता था...और, जो हमारी पद-प्रतिष्ठा की तुला पर इतना असम-विषम था—उसी के साथ चुपके-चुपके यह साँठ-गाँठ...?'—बस, एक वही संकोच मेरे उत्सुक चरणों में बार-बार बेड़ियाँ पहना देता था।...और, 'तपोधन' के सामने तो मैं जाना ही नहीं चाहती थी—यह तो बता ही चुकी हूँ! जाने कौन दुर्दैव मुझे खींच ले गया। गई थी यों ही कुछ लाड़ लड़ाने—कुछ मीठी बातें सुनने और मीठी थपकी पाने...लेकिन उन्होंने तो ऐसी बात पूछ दी—जिसकी कल्पना भी नहीं की थी मैंने...झुँझला उठी और असमंजस में पड़ गई।...हठात् मेरी आँखों ने आकुलता से तुम्हें ढूँढ़ा—और मैं अन्धकार-सागर में गिर पड़ी...लगता है, उस रक्त-स्राव के कारण मेरे अन्तर्जगत् में जो सूक्ष्म रोष, जो क्षोभ, जो घृणा, जो उपेक्षा जमा हो गई थी तुम्हारे प्रति, भूत की तरह, एकाएक वही मेरी जीभ पर चढ़कर बोलने लग गई...'

'सच, नारी का प्रेम कब घृणा में बदल जाएगा—कोई नहीं कह सकता है...'

'ऐसा न कहो, 'तरुण'—प्रेम नहीं बदलता है, पर परिस्थितियाँ कुछ समय के लिए उसे अन्त: सलिला जरूर बना देती हैं।...परित्यक्ता सीता का भी मन तो ऐसा खट्टा हो गया—कि वह फिर राम की बगल में न बैठ सकीं—सारे संसार के चाहने पर भी...'

'लेकिन सीता भरी-सभा में झूठ तो नहीं बोलीं...'

रमा मर्माहत हो गई और अपने को ही उधेड़ने लग गई :

'क्योंकि उनका प्रेम प्रकाश में पला था—अन्धकार में नहीं। राम ने उस जगज्जयी धनुष को तोड़कर अपने प्रेम को दिग्दिगन्त में घोषित कर दिया

था और सीता ने भरी-सभा में पुलकित होकर अपने प्रिय-पात्र के गले में जय-माल डाल दी थी। हम अभागों को प्रकाश का वह प्रसाद प्राप्त न हो सका...'

दोनों की आँखें झुक गईं और दोनों अपने-आप में डूब गए। अगर मिनिया न आ जाती, तो जाने कब तक वे डूबे रह जाते उस अन्धकूप में। उस कूप से एक ही ध्वनि उठ रही थी—और वही पेड़-पौधों से भी टकरा रही थी प्रति ध्वनि बनकर—प्रकाश...प्रकाश...प्रकाश....

'तो अब विदा दो—रमा...'

इतने में मिनिया आकर निहोरे के स्वर में बोली :

'चान...सामी...चान...'

'नहा-धोकर भोजन तो कर लो। मिनिया कब से प्रतीक्षा में है।...जाओ, मिनिया—हम आ रहे हैं।'

मिनिया ठिठकती-ठमकती चली गई।

'तो अब चलो...'

'अभी नहीं—प्रकाश में आने के बाद।'

'प्रकाश का पथ तो तैयार हो ही गया है—जीजी अब चुप तो रहेगी नहीं...पिताजी से कहेगी ही...'

'कहेगी—लेकिन नमक-मिर्च, लगाकर कहेगी, जिससे सुलझने के बजाय डर है—हमारी समस्या कहीं और उलझ न जाए...'

'तो अब तुम्हारे पराक्रम की बारी है—साहस के साथ मुझे पिताजी के सामने पकड़ ले जाना—कर सकोगे ?'

'तो फिर आया था किस लिए ?'

'लेकिन—तब कैसा चित्र उभरेगा हमारा उनकी स्तम्भित आँखों में ?'

'इसकी चिन्ता करते-करते तो हम यहाँ तक आ पहुँचे हैं। अब तुमको कुछ भी नहीं करना है—मैं जीजी को भी खींच ले जाऊँगा उनके पास...'

'अरे, तब तो भारी हंगामा हो जाएगा—और, तुम बेतरह पिट

जाओगे।...फिर तो मेरे लिए यह चाकू ही शरण समझो...'

'नहीं, रमा—जीवन के साथ यह खेलवाड़ अब सदा के लिए हमें बन्द कर देना होगा।...यह जीवन जाने कितने जन्मों के संचित शुभ कर्मों का वरदान है—इसे जतन से सँजोकर रखना है। नन्हे-मुन्नों का घरौंदा तो है नहीं—जब जी चाहा, उसके साथ थोड़ी देर खेल लिया; और—जरा भी उचटा—कि बस, सब पर दोनों हाथ फेर कर लापता हो गए!...नहीं,—अब हम गम्भीरता से इसका सूत्र पकड़ें और सुखी होने के लिए साहस के साथ संसार के सामने सिंह के समान खड़े हो जाएँ..'

रमा थोड़ी देर गहरी चिन्ता में पड़ी रही, फिर दृष्टि में शून्यता भरकर बोली :

'वैसा साहस तो अब मुझमें नहीं दीखता है, 'तरुण'। पहले कुछ सोचती भी थी, पर अब तो 'तपोधन' पर ही गुस्सा आता है— हमारे निजी मामलों में दखल देने की क्या जरूरत पड़ी थी उनको?...अब उन्होंने जो लिख दिया है, उसे कोई कैसे झुठला सकता है—इससे तो उनकी तौहीनी होगी। और—जानते ही हो—पिताजी इसे कदापि बर्दाश्त नहीं करेंगे।...मेरे साहस का सारा महल तो इसी पर खड़ा था—कि मैं पिता के प्यार और पैसे की अधिकारिणी हूँ—उसके सहारे तुम्हारे साथ निश्चिन्त जीवन बिता सकूँगी।...किन्तु न तुम अपने आत्मीयों को छोड़ने के लिए तैयार हुए, न मैं ही अपने माँ-बाप को छोड़ सकती...'

'तरुण' जैसे ताड़ के पेड़ पर से गिरा—एकदम हत-चेत-सा उसका मुँह देखता रहा। फिर खोया-खोया-सा शब्दों के कुहेसे में भटकने लगा :

'फिर यह धर-पकड़ क्यों?...इतना कथा-पुराण क्यों?...जीजी के साथ वह नोक-झोंक क्यों?...मैं तो जा ही रहा था...'

रमा का सिर लटक गया और धीरे-धीरे अन्धगुहा की अतल गहराई में जाकर वह फफकने लग गई :

'कुछ नहीं सूझता है, तरुण—न तुम्हें छोड़ सकती हूँ, न साहस के साथ पकड़ ही सकती...नजरों से ओझल होते हो, तो प्राण भी तुम्हारे साथ चल पड़ते हैं—और, रोकने का कोई उपाय देख नहीं पड़ता है!...मेरी यह असहायावस्था,

मेरी यह असमर्थता और मेरी यह आकुलता—कौन समझेगा इस हृदय-हीन संसार में ?...जीजी के सामने उघड़ गई; क्योंकि, वह मेरी नजरों में पहले से उघड़ी हुई थी—और, तुम उसकी हरकतें पहचानते आए थे ।...किन्तु पिताजी के सामने कैसे सिर उठाऊँ—जब 'तपोधन' का वैसा पत्र आ गया है; और, घर-बाहर इसकी चर्चा चल पड़ी है !...इसीलिए तो अब यह चाकू ही मुझे अपनी ओर जोर से खींच रहा है...तुम जीवन की गौरव-गाथा गाते हो—क्या करना है इस जर्जर को रखकर—कहो न तुम्हीं ?'

शरमाते-शरमाते 'तरुण' ने अस्फुट स्वर में कहा :

'क्या मेरे बल-पौरुष पर तुमको भरोसा नहीं है ?...प्रेम तो फटेहाली में भी मस्त रहता है । सीता ने राज-भवन को छोड़ा, पर वन-पथ-गामी राम को नहीं छोड़ा । क्या तुम इस राज-महल को छोड़कर मेरी कुटिया में सुखी नहीं रह सकती...?'

प्रश्न ने रमा के तन-मन में थोड़ी हलचल पैदा कर दी—और, उसने 'तरुण' की आँखों में देख कर चटुल-चुहल से कहा :

'सीता का जमाना सीता के साथ चला गया 'तरुण'—वह फिर लौटेगा, इसकी आशा कौन करे ?...इस जमाने में तो जो लोकादर्श शौक से भी 'कुटिया' बनवाते हैं—वे भी उसमें टेलीफोन, बिजली और मोटर की सुविधा कर लेते हैं । यह सीता-राम वाला भाव-प्रधान युग नहीं है—अर्थ-प्रधान युग है...कोई भी समझ-बूझ वाला अब फटेहाली को गले लगाना नहीं चाहता—सभी महल-मोटर की गोद में बैठकर हवा में उड़ना चाहते हैं । मैं भी तुमको उसी रूप में अपनाना चाहती थी—और, इसी लिए अपनी मंजूषा तुम्हारे हाथों में रख दी थी ।...तुम प्रकाश-प्रकाश तो चिल्लाते हो, पर प्रकाश के पथ पर चलने से मुकर-मुकर जाते हो !...धन कमाने के लिए मैं तुम्हें विदेश नहीं भेज रही थी—धन हमारे पास है, परन्तु जीवन में प्रतिष्ठा भी तो चाहिए ।...वनवासी राम के पास धन-दौलत भले ही न रही हो, पर पद-प्रतिष्ठा का तो कोई अभाव न था उनके लिए उस जंगल में भी। तुम्हीं कहो—सीता की छाती कैसी फूल जाती होगी उस अतुल प्रतिष्ठा को देखकर !...प्रेम के नाम पर तुम मुझसे यह महल छुड़वाना चाहते हो, लेकिन खुद कुटिया छोड़ने को क्यों न तैयार होते हो—प्रेम करने में तुम भी

तो पीछे नहीं हो मुझसे ?....यथार्थ तो यही है—'तरुण'—कि प्रेम जिस हृदय में रहता है, वह बपुरा शरीर के अन्दर ही धड़क रहा है; और—शरीर अर्थ के बल पर ही हृदय को शुद्ध रक्त प्रदान कर सकता है।...और यह भी तो झूठ नहीं है—कि प्रेम के अभाव में यह शरीर खड़ा रह सकता है, पर अर्थाभाव में तो टूट ही जाता है। इसी लिए तो मैं अनेक अनर्थों में पड़ गई हूँ। लेकिन तुमको इसकी कोई चिन्ता नहीं दीख रही है—कि फटेहाली कैसे दूर हो; और, पद-प्रतिष्ठा कैसे बढ़े...'

'तरुण' मन-ही-मन हँसता रहा अपनी होशियारी और उसकी बेवकूफी पर—और, हलके स्वर में बोला :

'प्रेम के साथ प्रकृति भी एक हो जाए—यह जरूरी नहीं है, रमा। तुम मुझे प्यार करती हो, मगर मेरे 'पायस' और 'रस-मलाई' देखकर घबराने लगती हो। मैं भी तुम्हें प्यार करता हूँ, परन्तु तुम्हारी इमली और मिर्च से पनाह माँगता हूँ। इसी तरह मुझे 'कुटिया' पसन्द है—तो तुम 'राजमहल' से निकल नहीं सकती।...इस प्रकृति-भेद को मैं पहचानता हूँ—और, और इसीसे कुछ कतराता भी आया हूँ। अर्थ को मैं भी अनर्थ नहीं मानता, परन्तु उस अर्थ के लिए मैं अपने ऊपर कोई अनर्थ नहीं कर सकता। विदेश जाकर बैरिस्टर बनने में मुझे वही आपत्ति है—इसके लिए तुम मुझे उदारता-पूर्वक क्षमा कर दो। तुम्हारा यह दृष्टि-कोण अगर मुझे पहले ही मालूम हो जाता, तो मैं तुम्हारे उस प्रस्ताव को सादर अस्वीकार कर देता।...रमा—यह भी झूठ नहीं है—कि प्रेम सम-शील में ही शोभा पाता है...'

रमा को लगा—जैसे 'तरुण' ने उसको नंगी करके चाबुक से पीट दिया हो। छिल-मिलाकर अत्यन्त क्षोभ से उसने कहा :

'निर्मम—तुम मुझे फिर विषम बाणों से बेधने लग गए !—कहाँ गया तुम्हारा वह मधुमय प्यार ? क्यों न मेरा गला घोंट दिया था निर्दयता से उसी समय—जब मैं दीन-दुनिया को भूलकर पागल हो उठी थी ?...उस समय तो एक दूसरी ही कविता सूझी थी तुम्हें -

"कै लघु कै बड़ मीत भल,
सम सनेह दुख सोइ।
तुलसी ज्यों घृत मधु सरिष,
मिले महा बिष होइ॥"

फिर कैसे कठोर हो गए तुरत . सचमुच पुरुष घोर वंचक होता है; जब सरला अबला का सर्वस्व अपहरण कर लेता है—तब उलट कर देखता भी नहीं !...जाओ—मुझे अब पुरुष-मात्र से घृणा हो गई है—चले जाओ ..'

आश्चर्य—'तरुण' तब भी मुसकुराता ही रहा :

'अब इस तरह के आदेश का पालन नहीं हो सकेगा—और, चुप भी रहा नहीं जाएगा :...चलो—अब हम नहाएँ-खाएँ। पिताजी के आते ही दुर्धर की तरह, तुम्हारा हाथ पकड़कर खड़ा हो जाऊँगा उनके सामने। न तुम कुछ बोलना, न मैं ही कुछ बोलूँगा। कृपा या कोप—जो भी करना चाहेंगे—शौक से करेंगे। आशीर्वाद या अभिशाप, पुलिस या जेल, हंटर या पिस्तौल—सबका मैं अविचल भाव से स्वागत करूँगा.. उठो—अब दुनिया की कोई ताकत मुझे तुमसे दूर नहीं हटा सकती।...पौरुष मुझमें है—धन भी कमा लूँगा...'

'तो मैं कृतार्थ हूँ—लेकिन अभी जाओ...पिताजी के आते ही मैं सब कुछ उनसे कह दूँगी। हंगामा खड़ा करने की कोई जरूरत नहीं। साँप मरे, पर लाठी न टूटे—इसका ख्याल रखना ही होगा.. हाँ, एक शर्त—माँ-बाप की जिन्दगी में तुम मुझे अपनी कुटिया में जाने को बाध्य नहीं करना, और—और, अपने उन आत्मीयों से भी मुझे अलग ही रखना। तुम्हारे साथ मैं हर-हालत में खुश रहूँगी, पर उन लोगों के बीच नहीं रह सकूँगी। मेरी इस रुचि का ख्याल तुम्हें रखना ही होगा ...'

युवक का कलेजा सहसा कसक उठा, लेकिन अपनी दुर्बलता छिपाकर वह बुलन्दी से ही बोला :

'तुम्हारा आग्रह आज तक मैं टाल नहीं सका हूँ। तुम्हारी प्रसन्नता के लिए 'अकरणीय' भी किया है—झूठ को झूठ नहीं समझा, जिन्दा को जिन्दा नहीं माना, अकारण माथा मुड़ाकर संन्यासी हुआ, गोत्र बदल दिया.. वैसी

भयानक दवा भी भेज दी...'रमा'—मैं फटेहाल हूँ दूसरों की दृष्टि में; अपनी नजरों में नहीं। जिसके पास लाख-करोड़ है; अगर वह उसमें से कुछ सौ या हजार खर्च कर दे, तो वह उसका कोई बड़ा त्याग नहीं माना जाएगा। परन्तु जो अपनी फटेहाली में भी किसी को कुछ दे देता है, वह दान अनूठा बन जाता है। आदमी उसकी कद्र करे या न करे, पर अन्तर्यामी को वह त्याग बड़ा प्यारा लगता है।...तुम रत्नाभरण उतार सकती हो, किन्तु मेरे लिए तो भाव ही देय है—जिसमें मैंने कोई कंजूसी नहीं की है। इसका मर्म तो तुम्हीं जानती हो।'

युवक की बात झूठ न थी और 'रमा' इसकी सचाई महसूस भी कर रही थी। फिर भी उसकी नजर अपनी छटपटाहट की ओर थी। इसलिए वह अपने उस अद्भुत 'आग्रह' की व्याख्या सरगर्मी के साथ करने लग गई :

'मैंने जो भी आग्रह किया है, तुम्हें अपनाने के लिए ही, आकुल होकर किया है। 'तपोधन' के संसर्ग में आने के कारण पिताजी में धार्मिक कट्टरता कुछ कम हुई, लेकिन सामाजिक बन्धन तो ढीले नहीं पड़े।...मुझ जैसी अधजली की शादी हो, हमारे समाज में कोई सोच ही नहीं सकता। इसलिए जो-जो अड़चनें सामने आईं, उन्हें दूर करने का आग्रह मैं तुमसे करती गई।...शादी-शुदा के साथ मेरी शादी नहीं हो सकती, इसलिए उस बेचारी बीमार गूँगी-बहरी को मरना पड़ा, सम-गोत्र में शादी नहीं हो सकती, इसलिए गोत्र में विशेष उपसर्ग जोड़ना पड़ा, फटेहाल के साथ शादी नहीं हो सकती, इसलिए मुझे निराभरण रहना मंजूर हुआ।...तुम्हें तो केवल अपनी रुचि-अरुचि के साथ संघर्ष करना पड़ा, परन्तु मुझे तो सारे समाज को सन्तुष्ट करना था।...साधारण स्थिति में ऊँचे से नीचे उतरना आसान मालूम होता है, लेकिन सामाजिक ऊँचाई से जरा भी नीचे खिसकना—कितना कठिन हो जाता है, यह तो मैं ही महसूस कर रही हूँ।...माता धर्म-भीरु, पिता को प्रतिष्ठा प्यारी, बहन स्वार्थान्ध और समाज हँसने वाला। इन सबके साथ सम-रस रहकर मुझे तुम्हारे साथ प्रकाश में आना है। इसी लिए मैं शर्त रखती आई हूँ—कि माँ-बाप की जिन्दगी में तुम मुझे अलग नहीं करोगे और अपने उन आत्मीयों के साथ कदापि नहीं रखोगे—जिन्हें मैं पसन्द नहीं करती हूँ। अपनी बात पुनः दुहराती हूँ और यह भी आग्रह करती

हूँ—कि पिताजी जो कहें, सहर्ष स्वीकार कर लेना—और...'

युवक ने उत्सुकता के साथ पूछा—'और'—क्या ?'

'और, मेरी इच्छा परीक्षा पास करने की है—जिसका भार पिताजी ने तुम्हीं पर डाला था।'

'उसकी चिन्ता तुम छोड़ दो। वचन देता हूँ—मैं जहाँ भी रहूँ, तुम्हारी मदद करता रहूँगा। अनुरोध इतना ही है—किसी भी परिस्थिति में कभी कोई अनर्थ न कर बैठना—और, मुझे सदा अपने पास ही समझना।'

'इसका विश्वास न होता, तो यों पकड़ती ही नहीं तुमको।'

'तो अब विदा...'

'हाँ, अभी जाओ ही—घर में अभी जहरीला धुआँ उठ रहा है। उससे दूर ही रखना चाहती हूँ अभी तुमको।...लेकिन क्या यों ही चले जाओगे—भूखे-प्यासे ही ?...नहीं; आओ—जरा इन प्यासी पलकों में छिपा लूँ तुम्हें...'

कहकर रमा ने सचमुच भुज-वल्लरी फैला दी—और चुम्बक ने लोहे को जाने कैसे अपने पास खींच लिया...

लता-मण्डप का वह रस-मर्मज्ञ झूला, बिना झुलाए हीं, जाने क्यों झूलने लग गया !

कृतार्थता-तीर्थ में स्नान करके युवक लता-मण्डप से निकला और गेट की ओर भूला कदम बढ़ा ही रहा था—कि कानों में सुरीली ध्वनि पड़ी—'सामी...'

युवक घूमकर खड़ा हो गया—गर्दन टेढ़ी करके नादान मिनिया जाने किस तरह कछ-मछाती मन्द-मन्द मुसकुरा रही थी...

हठात् एक अगम्य प्रश्न-ध्वनि उठी—और, सबके अन्तर को हिलाती-डुलाती हवा की लहरों पर चढ़ गई—

'क्या ऐंठ की चुभन उस नादान के मर्म-स्थल को भी मथ रही थी ?'

—:o:—

आश्रम का असमंजस

शहर की गंदगी और कोलाहल से दूर, एक अछूत-पुरवे के अनकरीब, ज्वार-बाजरे के लम्बे-चौड़े उपजाऊ सूखे खेत में, बाँस और फूस के कुछ झोपड़े खड़े करके नया-नया ही आबाद हुआ था वहाँ—'तपोधन' का वह आश्रम ।

आश्रम साधारण था; किन्तु उसको घेरकर समाज के सभी स्तरों से जो नर-नारी वहाँ जमा हुए थे, मेधा-प्रतिभा में, तप-त्याग में और गुण-दोष में वे अत्यन्त असाधारण थे—और, माई-भाई, काका-चाचा, दादा-बाबा, नाना-मामा, देव-देवी, मेनका-मीरा—आदि प्रिय-परिचित नामों से ही पुकारे-पहचाने जाते थे ।

उनमें डाक्टर-इंजीनियर, वकील-बैरिस्टर, सेठ-साहूकार, गरीब-अमीर, नरम-गरम, ईसाई-मुसाई, कुमार-कुमारी, सती-असती, लुच्चे-लफंगे, चोर-डाकू—सभी तरह की सूरतें दीख जाती थीं ।

आश्रम के प्राण—वह 'तपोधन' भी विचित्र तपस्वी थे—न सिर पर जटा-जूट, न तन में भसम-भभूत, न आसन में चर्म-वर्म, न हाथों में डंड-कमण्डल, न तापने को धूनी-धुआँ । फिर अमल-रमल और चिलम-चिमटा की चर्चा ही क्यों की जाए—जब साधारण चन्दन-तिलक और कण्ठी-माला का भी पता नहीं चलता था कहीं ।

साधना-आराधना की पुरानी परिपाटी ढूँढ़े नहीं दीख पड़ती थी—न मन्दिर-मूर्ति, न नर्तन-कीर्तन, न जोग-जाप, न आसन-प्राणायाम...

लेकिन सुबह-शाम खुले आसमान के नीचे बैठकर सबके साथ प्रार्थना-प्रवचन अवश्य चलता था ।

आश्रम का अर्थ भी कुछ अद्‌भुत ही किया जाता था—जहाँ 'श्रम' ही प्रधान हो, वही आश्रम । 'श्रम' में भी शारीरिक श्रम की प्रधानता दी जाती थी—और, उस 'श्रम' की सीमा में जो भी कर्म जीवन के लिए ज़रूरी समझे जाते

थे, उनमें कोई वर्ण-भेद नहीं किया जाता था। इसी से ऊँचे वर्णों से आने वालों को भंगी-कर्म की विशेष शिक्षा दी जाती थी और उन्हें चर्मालय में भी काम करना पड़ता था।

कर्म-गंगा में अवगाहन करके, शारीरिक श्रम की संकुलता के सहारे ही, देह-दाह से ऊपर उठकर आध्यात्मिक विश्राम का पथ परिष्कृत किया जाता था। गीता और रामायण, इंजील और कुरान, वेद और उपनिषद्—सब पर समान श्रद्धा देखी जाती थी। प्राणी-मात्र में एक ही चेतना-तत्त्व के दर्शन किए जाते थे, फिर भी मानवोपयोगी जीव-जन्तु की रक्षा का विशेष ध्यान रखा जाता था। स्त्री-पुरुष को संयम-नियम का पाठ पढ़ाते हुए भी उनके स्वच्छन्द मिलन-जुलन को संशय की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। यौवन को आग माना जाता था, उसकी जलन से बचने का उपदेश तो दिया जाता था, पर उसकी उपयोगिता भी खूब पहचानी जाती थी।

खाद्य-अखाद्य का आचार-विचार भी कुछ चौंकाने वाला दीखता था। शाकाहार को सर्व-श्रेष्ठ तो समझा ही जाता था, पर प्याज-लहसुन जैसे तामसिक तत्त्व से घृणा नहीं की जाती थी। प्याज को राष्ट्रीय भोजन और लहसुन को रक्त-चाप की अमोघ ओषधि घोषित करके उनका स्वच्छन्द सेवन किया जाता था। नशा-पानी तो निषिद्ध था ही, पर ताड़-खजूर के ताजे रस-पान को बढ़ावा दिया जाता था।

रोग और पाप से घृणा थी, पर रोगी और पापी की सेवा की जाती थी तत्परता के साथ। भूल-चूक और दुःख-दर्द की कहानी गहरी सहानुभूति के साथ सुनी जाती थी और उससे छुटकारा पाने के उपाय बड़ी सतर्कता से खोजे जाते थे।

मानव को देश-काल और जाति-धर्म से अलग करके शुद्ध परमात्मा के रूप में देखा जाता था। इस लिए ऊँच-नीच, छूत-अछूत, छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष का कोई भी भेद बाधक नहीं बनता था 'तपोधन' के साथ समीपता स्थापित करने में। जो आना चाहे, शौक से आए—सब के वास्ते आश्रम का द्वार खुला था। शर्त यही थी—कि जो आए, श्रम करके खाए। निकम्मों के लिए वहाँ

कोई स्थान नहीं था।

खेल और मनोरंजन की व्याख्या भी दूसरी थी—काम को ही खेल और मनोरंजन का शुद्ध साधन क्यों न समझा जाए? जब जीवन कर्म-प्रधान है, जब कर्म ही हमारे हाथ का एकमात्र अस्त्र है, तब उस कर्म को ही ऐसा पवित्र, ऐसा आनन्द-प्रद, ऐसा सुन्दर तथा सुरुचि-पूर्ण क्यों न बना लिया जाए—जिससे उसी में लीला-मय प्रभु के दर्शन हों और हम कर्म करते हुए रास-लीला का सुख प्राप्त करते रहें।

संगीत का स्वागत था; क्योंकि, उससे तन्मयता सहज ही सुलभ हो जाती थी। किन्तु प्रकृति को ही कला का अवदात रूप माना जाता था—मानवी बारीकी को वह गौरव प्राप्त नहीं था।

धन के प्रति ममता न होने पर भी एक-एक पैसे का हिसाब रखा जाता था—और, इसके सम्बन्ध में किसी के साथ कोई रू-रिआयत नहीं की जाती थी। धन को धरोहर समझकर मानव-कल्याण में उसका उपयोग किया जाता था। जीवन-यापन के लिए जितने धन की जरूरत हो, उतना ही अपने पास रखा जाता था—उससे अधिक संग्रह को चोरी माना जाता है। सम्पत्ति जहाँ है, जबर्दस्ती वहाँ से हटाई न जाए—हाँ, हृदय-परिवर्तन करके अभाव-ग्रस्तों में उसका विपुल वितरण अवश्य किया जाए।

अन्याय के आगे सिर कदापि न झुकाया जाए- अन्यायी चाहे कैसा भी ताकतवर क्यों न हो। किन्तु अन्याय का विरोध करते हुए भी अन्यायी के प्रति राग-द्वेष या घृणा-उपेक्षा न दिखाई जाए। अगर वह आफत में पड़ा दीखे, तो तत्परता के साथ उसकी सहायता की जाए; क्योंकि—वह भी मानव है—और मानव महान् है।

स्त्री के प्रति बड़ा ही उदार भाव देखा जाता था। वह धर्म-कर्म की संगिनी समझी जाती थी—लालसा, विलास या वासना की सामग्री नहीं। प्रेम के साथ जहाँ समर्पण होता था, उसे पवित्र माना जाता था। स्त्री के सहयोग की कोई सीमा न बाँधी जाती थी, परन्तु उसका गृहिणी-रूप अति-काम्य माना जाता था।

देश और काल को व्यापक कहा जाता था, फिर भी स्वदेश और उसके पुरातन के प्रति अधिक अनुराग रखा जाता था। स्वदेश की सेवा में विश्व-सेवा समाई हुई है—इस दृष्टि के कारण ही विदेश-भ्रमण की आवश्यकता नहीं महसूस की जाती थी।

शरीर ही सब से बड़ा तीर्थ है और दीन-दुखियों की सेवा ही सब से बड़ा व्रत है—इस दृढ़ धारणा के कारण ही 'तपोधन' के मन को जंगल-पहाड़ के लिए कभी मचलते नहीं देखा गया।

व्यक्ति नहीं, कर्म पूज्य है—इस तत्त्व का उपदेश करते हुए भी 'तपोधन' ने कुछ व्यक्तियों को बड़ी ममता से अपनाया था। और, जिन्हें कभी एक बार अपना बनाया, फिर कभी छोड़ा नहीं—कोई भले ही आँखें मोड़ लेता हो। व्यक्ति के प्रति सरल और अविचल विश्वास—'तपोधन' की सबसे बड़ी विशेषता थी। यही कारण था—कि वहाँ छोटे-बड़े व्यक्तित्व का दिन-रात जमघट ही लगा रहता था।

आश्रम अभी आरंभावस्था में था, इसलिए सजावट की ओर उसका ध्यान नहीं जा सका था, किन्तु व्यवस्था में सुरुचि और सजीवता की छाप बैठ गई थी। यही कारण था—कि बड़े-बड़े राज-महलों से आने वाले भी आश्रम को छोड़कर लौटना नहीं चाहते थे।

'तपोधन' का डील-डौल आकर्षक नहीं था, लेकिन उनकी सरल चितवन और उन्मुक्त हास्य जादू-भरा था—जैसे अगम्य का दर्शन करके कोई मंत्र-मुग्ध हो रहा हो आप-ही-आप!

चरण-स्पर्श का कोई लोभ न होते हुए भी जब कोई उमड़कर उनके पाँव पकड़ लेता था, तो उसे ठुकराया नहीं जाता था—बल्कि एक करुण-कातर दृष्टि उसके अन्तस्तल की विकलता को ढूँढ़ने लग जाती थी।

कैसा गजब का आकर्षण था उस अनाकर्षक व्यक्तित्व में—जैसे बृन्दावन में वेणु-वादन हो रहा हो—और, देह-गेह की सुधि बिसार कर अनजान गोपियाँ रास-क्रीड़ा कर रही हों—किसी मन-हरण श्यामघन को घेरकर!

अद्भुत था व्यक्तित्व 'तपोधन' का। भीतर-बाहर सरलता-ही-सरलता

खेलती दीखती थी, फिर भी विरोधाभास का आगार था वह व्यक्तित्व।

समर्पित जीवन में चिन्ता नाम-शेष हो जाती है; और, साधक सब ओर से निश्चिन्त बन जाता है—क्योंकि, उसकी चिन्ता सर्वान्तर्यामी करता है। साधना की इस सर्वमान्य दृष्टि से 'तपोधन' को कोई चिन्ता नहीं थी, फिर भी मानव-कल्याण की चिन्ता से उनका प्रतिपल ऐसा व्यस्त बना रहता था—कि देखने वालों को दया आ जाती थी।

चिन्ता को चिता से तुलाया जाता है और कहा जाता है—कि चिन्तित व्यक्ति का तन-मन देखते-देखते जर्जर हो जाता है। मगर जगत् की चिन्ता में डूबे रहने वाले 'तपोधन' का स्वास्थ्य लोगों को चमत्कृत ही नहीं करता था—ईर्ष्यालु भी बना देता था।

मर्मज्ञ-मानवों का कहना है—कि निश्चिन्त व्यक्ति को ही अनायास गहरी नींद आती है। मगर 'तपोधन' ऐसे निश्चिन्त थे कि रेलगाड़ी की कौन कहे, हवागाड़ी में भी, अगर पन्द्रह मिनट का अवकाश उन्हें मिल जाता, तो वह गहरी नींद में चले जाते—और, ठीक सोलहवें मिनट पर उनकी आँखें खुल जाती थीं।

जड़-चेतन में एक ही परम चरम-शक्ति का दर्शन करने वाला साधक सहज ही निर्भीक बन जाता है। 'तपोधन' का तन-मन ऐसा निर्भीक था—कि विषधर सर्प भी अगर कभी शरीर पर चढ़ जाता था, तो भी वह सुस्थिर देखते रह जाते थे—जैसे जड़-पत्थर हों।

तत्त्व-दर्शी की दृष्टि सम और निर्विकार मानी जाती है—हर्ष और विषाद के दृश्य उस दृष्टि को चंचल नहीं बनाते हैं। 'तपोधन' के तत्त्व-दर्शी होने में तो कोई शंका थी नहीं; फिर भी असहायों की पीड़ा उन्हें बेहद तड़पा देती थी। और कभी-कभी तो वह तड़प ऐसी अद्भुत हो जाती थी—कि दर्शक चकित-थकित रह जाता था।

एक बार आश्रम की एक बछिया बीमार पड़ी—और, जब दवा-दारू का कोई असर न हुआ; और, वह कई दिन तक बेहद तड़पती रही, तब डाक्टर को आदेश हुआ—सूई देकर उसका प्राणान्त कर दिया जाए!

धर्म-भीरु मूढ़ लोगों में उस गो-वध से कैसी हलचल हुई होगी—कल्पना की जा सकती है।

तपस्वी पक्षपात से परे होते आए हैं। 'तपोधन' ऊँचे दर्जे के तपस्वी थे—इसमें कोई सन्देह तो था नहीं। फिर भी वह निष्पक्ष नहीं देखे जाते थे; और, तारीफ यह—कि अपना पक्ष वह सब पर प्रकट भी कर देते थे। ऐसे प्रसंगों पर उनका कथन बड़ा ही मर्म-अरुन्तुद हो जाता था :

'आग का अपना कोई पक्ष नहीं होता है—फिर भी जो उसके जितना समीप जाता है, उतनी ही अधिक गर्मी पाता है!'

मन-मर्मज्ञ होकर भी 'तपोधन' अक्सर धोखा खाते रहते थे, लेकिन पछताते नहीं थे—मनुष्य की दुर्बलता को सहज उदारता से देखकर नजर-अन्दाज कर जाते थे। किन्तु जो जितना नजदीक जाता था, डाक्टर की भाँति उसकी बीमारी का इलाज भी वह उतना ही निर्मम होकर कर देते थे।

गुण-दोष सहज संगी होते हैं, यह जानकर भी साधक के लिए दोष-मुक्त होना 'तपोधन' अत्यन्त आवश्यक बताते थे। सेवा-व्रती का दोष तो वह अक्षम्य ही मानते थे। उनका तो यहाँ तक कहना था—कि सेवक को बीमार पड़ने का भी अधिकार नहीं है। क्योंकि, तब तो 'व्रती' का 'व्रत' ही टूट जाता है—और, सेवक दूसरों से 'सेवा' लेने लग जाता है!

कद में नाटे, देह से दुर्बल, मन से सन्त 'तपोधन' अद्भुत योद्धा भी थे। स्वदेश को विदेशियों से स्वतंत्र करने का कठोर संकल्प था उनका। स्वतंत्रता का संग्राम बहुत पहले से चलता आया था। लेकिन 'तपोधन' ने आते ही राजनीति के रंग-मंच से एक विचित्र घोषणा कर दी :

'शत्रु को भगाओ—मगर उससे घृणा नहीं करो।'

तपे-तपाए देश-भक्तों के गले वह बात नहीं उतरी। लड़ो और घृणा न करो—बम और पिस्तौल वाले तो कभी सोच ही नहीं सकते थे—आवेदन-निवेदन वाले भी चक्कर में पड़ गए।

किन्तु 'तपोधन' ने कहा :

'महाभारत के युद्ध में भीष्म ने उसे चरितार्थ किया था—पाण्डवों के साथ वह लड़े भी—और, उन्हें प्यार भी किया।'

इस मामले में 'तपोधन' के सामने मुखौटे ही अधिक दीख पड़ते थे, फिर

भी वह कभी हताश न हुए—अपनी टेक पर अडिग चलते रह गए।

मानव-जीवन में 'चरित्र' अनमोल धन है और उस धन का सतर्क सन्तरी है संयम—इसका पाठ तो 'तपोधन' ने बहुत पढ़ाया आश्रम-वासियों को, किन्तु कुछ किस्मत के जोर वाले ही उस कसौटी पर खरे उतर सके।

उपदेश इतना टेढ़ा नहीं था—स्त्री को न गठरी बनाओ, न खिलौना; न सिर पर चढ़ाओ, न पगतल की जूती ही समझो। समझो—समान हक वाली, समान धर्म वाली स्नेही-साथी।'—यहाँ तक किसी को कोई कठिनाई न थी।

लेकिन, जब यह कहा जाता—'स्त्री के साथ रहो, मगर सहवास न करो—पति-पत्नी भी ब्रह्मचर्य न तोड़ें।' तब श्रोता मुश्किल में पड़ जाता था। उसे वह अनमोल उपदेश वैसा ही कठिन प्रतीत होता था, जैसे कोई कहे—आग से खेलो, पर उँगली न जलाओ।

उस दिन एक वैसा ही पेचीदा प्रसंग खड़ा हो गया था 'तपोधन' के सामने—जिससे 'आश्रम' एक विचित्र असमंजस में पड़कर डोल रहा था।

डाकघर में 'आश्रम' के नाम का ही सबसे बड़ा थैला बँधता था। चिट्ठियों का जवाब 'तपोधन' बड़ी सावधानी से देते थे। काम-काज वाले पत्रों की अपेक्षा व्यक्तिगत पत्र 'तपोधन' को अधिक आकृष्ट करते थे; क्योंकि—व्यक्ति के विकास में ही उन्हें वसुन्धरा का विकास दीख रहा था।

आज की डाक में दो पत्र ऐसे थे—जो 'तपोधन' को विशेष रूप से अस्थिर कर रहे थे। बार-बार वह एक के बाद दूसरा पत्र हाथ में लेते थे, और पढ़कर बार-बार चिन्तित-से रख देते थे।

एक कह रहा था :

'पूज्य चरण, प्रणत प्रणाम।

कबीर दास की एक साखी है :—

"पीया चाहे प्रेम रस—
राखा चाहे मान।
एक म्यान में दो खड्ग—
देखा सुना न कान।"—:

बैंगलोर में...ने जो कुछ आप से कहा है, उसे उसी 'साखी' की विवशता समझिए। अपराध मेरा है—उसने मुझे बुलाया था। अगर उस समय मैं उसके साथ रहता, तो न वह आत्म-वंचना के लिए विवश होती, न आपको विस्मय में ही डालती। वह निरपराधिनी है, अतः उस पर कोई कोप न करें—जो सजा देना चाहें, मुझे दें। किन्तु इतना ध्यान रखें—कि उस बड़े बाप की बेटी के आन-मान पर आपके हाथों कोई आँच न आने पाए।

चरणानुरागी'

दूसरा पहले से भी भयावह था—जो कह रहा था :

'लोक-लोचन, विनम्र वन्दन।

आप का वह शिष्य तुलसी की वाणी का प्रतिरूप है :—

'बंचक भगत कहाइ राम के।
किंकर कंचन कोह काम के॥'—

लंबा चोगा और लुंगी पहन कर वह आपकी आँखों में धूल झोंकता है। धरोहर के धन का गबन तो करता ही है, अब आपका पवित्र नाम लेकर औरतों को भी उड़ाने लगा है। उसकी करतूतों का कच्चा चिट्ठा पेश कर रहा हूँ। आदेश पाकर सप्रमाण सेवा में हाजिर हो जाऊँगा।

पत्रोत्तर की प्रतीक्षा में उत्सुक

आपका आज्ञाकारी'

एक बार उनके मन में आता—'गिरि-नन्दिनी झूठ बोल रही है, यह तो बिजली की तरह मेरे मन में चमका ही था, परन्तु वह मुझसे झूठ कहेगी—इस पर विश्वास नहीं बैठ रहा था। कितनी भोली, कितनी भली—पर, कितनी भूली-भटकी—अरे, देखते-देखते कैसी अगम्य-गोचरा बन जाती हैं लड़कियाँ... मैंने उस की ब्रह्मचारीजी समझी थी—साहचर्य का नाजायज फायदा उठाना चाहता है...लेकिन देखता हूँ—जाकर सब कुछ बता दिया है उससे...तभी तो वह ऐसा लिख रहा है...दोनों में प्रेम तो है अवश्य, पर वह झूठ क्यों बोल गई?—सच कहती, तो उसके प्रेम का पथ भी परिष्कृत हो जाता...कैसी नादान—

कैसी अभागिनी'

कभी वह उद्विग्न हो उठते दूसरे पत्र की बात सोच कर—'वह तो आश्रम का बालक था और सब का प्यारा 'अण्णा' था। मेरे साथ छल करेगा—चरित्र का खोटा निकलेगा—जिसने क्रान्तिकारी दल में जान हथेली पर लेकर देश के लिए काम किया था—ऐसा धोखेबाज और भ्रष्ट निकलेगा? नहीं, संभव नहीं है। अवश्य इसमें कहीं-न-कहीं कोई गड़बड़ी है...लेकिन वह भी तो उसका साथी ही है और अकारण उसे बदनाम नहीं करेगा--व्यर्थ मुझे परेशानी में नहीं डालेगा...'

सत्यान्वेशी को आज सत्य की थाह नहीं मिल रही थी और वह अपने पर ही झुँझला उठता था—'अवश्य इसमें मेरी कमजोरी है, नहीं तो कोई मुझे यों संकट में क्यों डालता...अवश्य मेरी साधना दुर्बल है?'

दूसरा पत्र जहाँ उस निश्छल-निर्मल के अन्दर गुस्सा उभार रहा था अपने-पराए पर, वहाँ पहला उसे अत्यन्त गंभीर बना देता था; क्योंकि—वह उसके एक अनुरक्त बड़े बाप की बेटी के जीवन को जटिल बना रहा था। घूम-फिर कर वह आ जाता था आत्म-तिरस्कार के पथ पर—'क्या पड़ी थी मुझको उससे कुछ पूछने की—और, फिर मैंने उसके बाप को यह सब लिख ही क्यों दिया?—अब तो जंजाल में पड़ी वह नादान—न प्रेम छोड़ सकती है, न पिता से सच-सच कह ही सकती है...बीच में मारा जाएगा वह अभागा...'

किसको क्या जवाब दिया जाए? इस तरह की उलझन में वह पार-दर्शी बहुत कम पड़े थे। उनकी चिन्ता बढ़ती ही जा रही थी।

उधर उनका वह अनुरक्त 'भक्त'—जब अपनी प्यारी पुत्री के बारे में उनका वह पत्र पढ़ेगा—तब उसकी मानसिक स्थिति कैसी विचित्र हो जाएगी; और, उसके घर का शान्त वातावरण कैसा क्षुब्ध हो उठेगा ..जिस बेटी का मुँह देखकर वह बेटे का दुःख भूल जाता था, जिसको ऊँची-से-ऊँची शिक्षा देकर वह उसे अपने से भी ऊँचे पद पर प्रतिष्ठित करने का स्वप्न देख रहा था, जो उसकी आशा और आकांक्षाओं का कमनीय केन्द्र बनी हुई थी—उसका चरित्र सन्दिग्ध

हो जाए—सो भी एक ऐसे व्यक्ति के सामने, जिसको वह अपना आराध्य समझता है—अरे, कैसा विस्मय, कैसा विषाद और कैसी निराशा घिरी होगी उसके नेत्रों के आगे...

भक्त-वत्सल का हृदय उमड़ आया और नयनों में तरलता छा गई।

फिर ख्याल आया 'भक्त' की बीमार पत्नी का—जो कट्टरता के कठघरे से निकलकर उनके पास पहुँची, पर छूत-अछूत के प्रश्न पर जब उसकी आत्मा सहमत न हो सकी—और, आश्रम का भोजन उसके गले के नीचे नहीं उतर सका, तब दुविधा में पड़ी उस धर्म-भीरु को किस ममता, किस धैर्य और किस कौशल से समझा-बुझाकर घर भेजना पड़ा था। बेचारी पुत्री के वैधव्य की घातक व्यथा से व्याकुल होकर आश्रम-जीवन में समरस होने आई थी और लौटना नहीं चाहती थी, परन्तु अछूतों का पकाया खाना वह छूती भी कैसे ! बड़ी विचित्र दशा हो रही थी उसकी। यह देखकर उस दिन जैसा चौंकाने वाला प्रश्न कर दिया था उससे, आज उसकी सूत्रता ढूँढ़ते उन्हें आत्म-संकोच हो रहा था। उन्होंने अचानक पूछ दिया था—'गिरिनन्दिनी अगर शादी करना चाहे, तो करने दोगी या नहीं ?'

पता नहीं, कैसा आघात लगा था इस प्रश्न से उस बेचारी के कोमल अन्तर पर। आँखें मूँदकर और कानों में उँगली डालकर वह बोली थी :

'मेरी बेटी सती, सीता और सावित्री की पूजा करती है—उस अधजली पर अभिशाप का यह अंगार क्यों उँड़ेलते हैं—गुरुवर ? हम लोग धर्मोपदेश लेने आए हैं आपकी शरण में। अधर्म की यह बात कैसे निकली आपके मुख से ?...'

'...अब—जब पत्र की चर्चा उसके कानों में पड़ेगी, तब क्या दशा होगी उस मूढ़ माँ की—किस भीति और अचरज से देखेगी वह अपनी उस सती बेटी को, जिसके सतीत्व पर उसे इतना अभिमान था ?...'

याद आ गई उसकी वह नागम्मा, जिसके लिए कभी उन्हें कितनी माथा-पच्ची करनी पड़ी थी !

'अवश्य वह दुर्बलात्मा इस समय अन्दर से उछल रही होगी और गर्वोन्नत

माँ-बाप को किस गर्व से देख रही होगी'''कितना दुर्बल होता है आदमी का मन—और, साथ ही कितना ईर्ष्यालु ! अच्छाई में किसी को आगे देखकर वह कितना अप्रसन्न हो उठता है, मगर बुराई में बढ़े-चढ़े को देखकर कितना खिल जाता है !…नागम्मा को तो मणि-मुक्ता पाने की खुशी हो रही होगी—और, जाने वह किस क्रूर और कुटिल दृष्टि से देख रही होगी अपनी उस गर्वीली बहन को—बेचारी कैसे बर्दाश्त करेगी उसके चुभीले व्यंग्य-वाण को ?…'

लेकिन वह नादान झूठ क्यों बोल गई उनके सामने—इसका रहस्य समझ में नहीं आता था ।

स्वभाव और बर्ताव वह जानती थी—वह तो सहायक ही होते उसका… ठीक ही लिखा है 'तरुण'—मिथ्या प्रतिष्ठा की भावना ने ही उस से यह आत्म-बंचना करवाई है । अब तक जो प्यार और प्रतिष्ठा वह पाती आई थी आदर्श के नाम पर, उसमें बाधा पड़ने के डर से ही उसने पासा पलट दिया—कैसी नादान, कैसी मूढ़ ! अब तो वह न घर की रही, न घाट की—काँटों में घिसट गई—सो भी उनके हाथों…

क्या करते वह—सब कुछ जान-सुनकर भी कैसे चुप रह जाते ? तब क्या उनकी आत्मा प्रसन्न रहती, तब क्या 'सत्य' का गला न घुटता, तब क्या वह अपने अन्तर्यामी के सामने दोषी नहीं बनते ?…

पत्र से तो साबित हो रहा था—कि दोनों में गहरा सम्बन्ध है । यह सम्बन्ध अब प्रेम का है, या वासना का—इसका निर्णय नहीं हो रहा था ।… प्रेम निश्छल और निश्चल होता है । वह बड़ा-से-बड़ा त्याग कर सकता है और कड़ा-से-कड़ा दण्ड भोग सकता है । युवक कठोर-से कठोर सजा शिरोधार्य करना चाहता है—और, उसको बेदाग बचाने की कोशिश करता है । वह प्रेम के महत्त्व को पहचानता जान पड़ता है ।…लेकिन गिरि के प्रेम को ही झूठा कैसे कहा जाए ?…अगर वह झूठा होता, तो बैंगलोर की बात उसे बताती ही क्यों—फिर उससे मिलती ही क्यों ?…किन्तु, अगर सच्चा होता, तो फिर झूठ ही क्यों बोलती भला…

'तपोधन' को आज नींद नहीं आ रही थी। 'तरुण' के पत्र का जवाब वह नहीं दे सके। सोचते ही रह गए—क्या लिखा जाए ?.. वह भी उनका अनुरक्त था और उन्हीं के आदेश से घर-बार, स्कूल-कालेज छोड़ कर वर्षों से भटक रहा था। उनका आदेश-पालन ही उसके लिए सबसे बड़ा धर्म बन गया था। पहले वह 'वन्दे मातरम्' का पुजारी था। धीरे-धीरे बमबाजी भी करने लगा और आखिर जब 'तपोधन' का बिगुल बजा, तब दौड़ा चला आया था उनके पास। उन्हीं के प्रभाव से वह सब का स्नेह और सम्मान पा सका था। उस घर में भी उसका जो प्रवेश हुआ, वह भी 'तपोधन' के नाम पर ही हुआ था। और उसका काम भी सन्तोष-जनक था—'तपोधन' ने उसे प्रमाण-पत्र भी दिया था अपने हाथ से।

ऐसे अनुरक्त के पत्र का जवाब कैसे नहीं दिया जाए—जब उसके जीवन की समस्या उन्हीं के कारण ऐसी जटिल हो रही थी ! जवाब दिया भी जाए, तो क्या दिया जाए ?—क्या डाँटा-फटकारा जाए, या कोई कड़ी सजा सुना दी जाए, या उसे अपने पास बुला लिया जाए ?...

कुछ भी निश्चय नहीं हो पा रहा था और 'तपोधन' की चिन्ता-धारा अपनी गति-विधि बदलती चली जा रही थी :

लेकिन अब तक चुप क्यों था उनका वह 'तरुण' ?...उसने 'अण्णा' से क्यों कहा—खुद क्यों न आ गया उनके पास ?—यह प्रश्न भी डुला रहा था उन्हें।

उधर 'अण्णा' का चित्र और चरित्र अलग झकझोर रहा था मानव-हृदय के उस अटल विश्वासी को। किस गहरे विश्वास के साथ उसके रक्तारुण हृदय को धोया था उन्होंने अपने वत्सल हाथों से और कितना अटूट विश्वास जमाया था उसके चरित्र पर !...तपा-तपाया वह दृढ़ व्यक्तित्व कैसे गिर गया दुर्बलता के उस गड्ढे में...फिर अपनी बात न कहकर उसने अपने उस सहयोगी की बात क्यों कही उन से ?...जो खुद गर्दन तक दल-दल में डूबा हो, वह दूसरे की देह की धूलि देखकर यों कुतूहल में क्यों आ जाए—मानव-मन की इस विचित्र उलझन का छोर भी वह नहीं पा रहे थे !

फिर कैसा सलूक किया जाए उस पतित-चरित्र के साथ ?...बगल में सेवा-

परायण पत्नी है, प्यार से पालित पुत्री है, बड़ी जिम्मेबारी कन्धों पर पड़ी है, दूसरों को आदर्श-सेवा का पाठ पढ़ाता है और खुद कुलीन घर की गृहिणी को भटकाता-फिरता है !

कैसी बदनामी—अपनी और उस तपसी बाबा की ! समाज में अब कोई कैसे विश्वास करेगा किसी का 'तपोधन' के नाम पर ?...क्या किया जाए ?... सजा तो भुगतनी ही होगी उसे—और, साथ ही सार्वजनिक रूप से इसका भंडा-फोड़ भी करना होगा।

सहसा 'सत्य' का उदास मुँह देखकर वह चौंक उठा—तो फिर 'गिरि' की बात पर चुप रह जाना क्या 'सत्य' के साथ आँख-मिचौनी करना नहीं होगा ? होगा तो अवश्य, पर...

सत्य के पुजारी की आत्मा विकल हो उठी—एक की चरित्र-भ्रष्टता पर सजा—सो भी दुहरी सजा देने की तैयारी; और, दूसरे की बात पर चुप्पी...

महान् आत्मा की यह लाचारी ! स्पष्ट ही इस 'चुप्पी' में पद-प्रतिष्ठा के प्रति 'पक्षपात' का जबर्दस्त हाथ था—और, 'तपोधन' वह हाथ खींचने को तैयार न दीखते थे...बेचारा 'सत्य' क्या करता - व्याकरण जैसे आर्ष-प्रयोग पर सिर झुका लेता है, वह भी 'तपोधन' की ओर कातर दृष्टि से देखता रह गया...

बड़े पुजारी थे 'सत्य' के वह 'तपोधन'। 'सत्य' को ही 'परमात्मा' समझ कर संसार में जिसकी व्यापक प्राण-प्रतिष्ठा का व्रत धारे वह घूम रहे थे, आज उसी से आँखें चुराने में उन्हें झिझक न हो रही थी। तर्क तैयार था उसके लिए भी, शास्त्र नजीरें भी पेश कर रहा था आत्म-तोष के लिए, फिर भी आत्मा उनकी छटपटा रही थी—नहीं, नहीं—यह पक्षपात ठीक नहीं...

किन्तु 'पक्षपात' जरूरी था; क्योंकि, 'गिरि' सामाजिक दृष्टि से एकदम भिन्न थी, उसकी स्थिति विशेष बर्ताव की माँग कर रही थी—और, वह बर्ताव उसके पिता की पद-प्रतिष्ठा से सम्बद्ध था...

'तपोधन' सत्य के कितने भी कट्टर भक्त क्यों न रहे हों, फिर भी वह 'सत्य' सूक्ष्म था—और, समाज सिर पर सवार था...

और भी एक महान् सत्य किसी अज्ञात लोक से बोल रहा था—जो

जितना निकट होता है; कृपा या कोप का वह उतना ही अधिक अधिकारी बन जाता है। मानवोत्तम राम ने इसीलिए सती सीता को निर्मम होकर चुपचाप जंगल भेज दिया, किन्तु उस निन्दक धोबी को कुछ न कह सके! स्पष्ट था—सीता पर जो अत्याचार हुआ, वह अपने ऊपर था, जैसे आकुल होकर आदमी छाती-सिर पीट लेता है—अपने ही गालों पर थप्पड़ मार लेता है!

'अण्णा' भी सामाजिक दृष्टि से वैसा ही अकिंचन, अपनी दृष्टि से वैसा ही निकट और वैसा ही अत्याचार का अधिकारी दीख रहा था···

नींद कब और कैसे आ गई 'तपोधन' को, कोई पता न चला—सोचते-सोचते ही वह गहरी नींद में चले गए···

नींद कब तन्द्रा में बदल जाती है—और, आदमी कब स्वप्न-लोक में भ्रमण करने लग जाता है, इसका रहस्य अब तब अगम ही बना हुआ है।

'तपोधन' ने स्वप्न-मुक्त होने का विशेष प्रयत्न किया था। उनकी मान्यता थी—कि स्वप्न वासना-विकार के ताना-बाना मात्र हैं। जीवन की सरल-साधना से आदमी जैसे-जैसे विकार-विमुक्त होता जाएगा, उसकी नींद भी उतनी ही स्वप्न-शून्य होती जाएगी।

सुषुप्ति को वह गहरी नींद ही मानते थे—जब आदमी कोई सपना नहीं देख पाता है, तभी वह बेखबर सोता है। 'तपोधन' को वैसी नींद आ रही थी और अज्ञात रूप से अपनी साधन-सफलता पर उन्हें कुछ आत्म-तोष या गर्व भी हो रहा था···

किन्तु···

किन्तु आज 'आश्रम' सहसा यों गमगीन क्यों हो गया है, आश्रम-वासी यों भयाकुल क्यों दीख रहे हैं, इधर-उधर लोग जाने कैसी काना-फूसी क्यों कर रहे हैं?

क्रमशः एक कान से होकर बात दूसरे कान में पहुँची—और, अन्तरंगों में से एक ने जाकर साहस के साथ 'तपोधन' से कहा :

'इस चिन्ता से आप नाहक परेशान क्यों हो रहे हैं? यह तो जीवन-ज्योति का दर्शन है—विकृत विकार का नहीं। विकार पर तो काबू है ही

आपको। आप अगर इसे 'काम' कहते हैं तो भी निराश होने की कोई बात नहीं है। 'काम' जीवन का अगर जहर है, तो फिर अमृत किसे कहा जाएगा ? 'काम' ही तो जीवन को जीवन्त रखता है। आप में वही अमृत यह घोषणा कर रहा है—कि आप अब भी बहुत कुछ कर सकते हैं। 'स्वप्न-दोष' से तो वह डरे, जो भोग-लालसा से प्रेरित रहता है। 'काम' न हो, तो काम करने की शक्ति ही किसी को कहाँ से आए ?...'

अपने परम-प्रिय अनुरक्त के उस समाधान को 'तपोधन' शान्त भाव से सुनते रहे—और, फिर धीरे-धीरे बोले :

'तुम्हारे कथन में बहुत कुछ सार है, फिर भी इतना तो स्पष्ट है—कि स्वप्न पर मेरा अधिकार अब तक सुस्थिर न हो सका है; और, अवश्य इसमें बाहरी परिस्थितियों का हाथ है ··निर्विकार रहकर मानव-सेवा का व्रत कितना कठिन है—इसका बोध ही आज मुझे यों पस्त कर रहा है। मैंने अपने जीवन को मानव-जीवन में मिलाकर जीवन के चरम लक्ष्य को पा जाना चाहा था। इसी से साधना-आराधना के पुराने परिचित प्रयोगों से कतराकर सत्य, सेवा और प्रेम को पकड़ा था। तुम लोगों को जमा किया था और सबके जीवन में ममता से झाँककर अपने जीवन को कृतार्थ करना चाहता था। परन्तु यह 'स्वप्न-स्खलन' क्या इंगित करता है···नहीं, अब मैं किसी की कोई बात नहीं सुनूँगा, किसी की कोई चिन्ता न करूँगा, किसी के जीवन में नहीं झाँकूँगा, न किसी के काम में कोई दखल ही दूँगा—मुझे पहले खुद सबल होना है, सपनों पर अधिकार करना है। अतः आज से, जबतक अन्तर्ध्वनि नहीं होती है, मौन और उपवास रहकर मैं अन्तर्यामी को पुकारूँगा—मेरा यह अटल निर्णय है।'।

मौन, उपवास, उदासी और काना-फूसी—आश्रम के वातावरण में आज जहाँ-तहाँ यही तसवीर खड़ी दीख पड़ती थी।

—:o:—

'तपोधन' को आज नींद नहीं आ रही थी। 'तरुण' के पत्र का जवाब वह नहीं दे सके। सोचते ही रह गए—क्या लिखा जाए?...वह भी उनका अनुरक्त था और उन्हीं के आदेश से घर-बार, स्कूल-कालेज छोड़ कर वर्षों से भटक रहा था। उनका आदेश-पालन ही उसके लिए सबसे बड़ा धर्म बन गया था। पहले वह 'वन्दे मातरम्' का पुजारी था। धीरे-धीरे बमबाजी भी करने लगा और आखिर जब 'तपोधन' का बिगुल बजा, तब दौड़ा चला आया था उनके पास। उन्हीं के प्रभाव से वह सब का स्नेह और सम्मान पा सका था। उस घर में भी उसका जो प्रवेश हुआ, वह भी 'तपोधन' के नाम पर ही हुआ था। और उसका काम भी सन्तोष-जनक था—'तपोधन' ने उसे प्रमाण-पत्र भी दिया था अपने हाथ से।

ऐसे अनुरक्त के पत्र का जवाब कैसे नहीं दिया जाए—जब उसके जीवन की समस्या उन्हीं के कारण ऐसी जटिल हो रही थी! जवाब दिया भी जाए, तो क्या दिया जाए?—क्या डाँटा-फटकारा जाए, या कोई कड़ी सजा सुना दी जाए, या उसे अपने पास बुला लिया जाए?...

कुछ भी निश्चय नहीं हो पा रहा था और 'तपोधन' की चिन्ता-धारा अपनी गति-विधि बदलती चली जा रही थी :

लेकिन अब तक चुप क्यों था उनका वह 'तरुण'?...उसने 'अण्णा' से क्यों कहा—खुद क्यों न आ गया उनके पास?—यह प्रश्न भी डुला रहा था उन्हें।

उधर 'अण्णा' का चित्र और चरित्र अलग झकझोर रहा था मानव-हृदय के उस अटल विश्वासी को। किस गहरे विश्वास के साथ उसके रक्तारुण हाथ को धोया था उन्होंने अपने वत्सल हाथों से और कितना अटूट विश्वास जमाया था उसके चरित्र पर!...तपा-तपाया वह दृढ़ व्यक्तित्व कैसे गिर गया दुर्बलता के उस गड्ढे में...फिर अपनी बात न कहकर उसने अपने उस सहयोगी की बात क्यों कही उन से?...जो खुद गर्दन तक दल-दल में डूबा हो, वह दूसरे की देह की धूलि देखकर यों कुतूहल में क्यों आ जाए—मानव-मन की इस विचित्र उलझन का छोर भी वह नहीं पा रहे थे!

फिर कैसा सलूक किया जाए उस पतित-चरित्र के साथ?...बगल में सेवा-

परायण पत्नी है, प्यार से पालित पुत्री है, बड़ी जिम्मेवारी कन्धों पर पड़ी है, दूसरों को आदर्श-सेवा का पाठ पढ़ाता है और खुद कुलीन घर की गृहिणी को भटकाता-फिरता है !

कैसी बदनामी—अपनी और उस तपसी बाबा की ! समाज में अब कोई कैसे विश्वास करेगा किसी का 'तपोधन' के नाम पर ?...क्या किया जाए ?... सजा तो भुगतनी ही होगी उसे—और, साथ ही सार्वजनिक रूप से इसका भंडा-फोड़ भी करना होगा।

सहसा 'सत्य' का उदास मुँह देखकर वह चौंक उठा—तो फिर 'गिरि' की बात पर चुप रह जाना क्या 'सत्य' के साथ आँख-मिचौनी करना नहीं होगा ? होगा तो अवश्य, पर...

सत्य के पुजारी की आत्मा विकल हो उठी—एक की चरित्र-भ्रष्टता पर सजा—सो भी दुहरी सजा देने की तैयारी; और, दूसरे की बात पर चुप्पी...

महान् आत्मा की यह लाचारी ! स्पष्ट ही इस 'चुप्पी' में पद-प्रतिष्ठा के प्रति 'पक्षपात' का जबर्दस्त हाथ था—और, 'तपोधन' वह हाथ खींचने को तैयार न दीखते थे...बेचारा 'सत्य' क्या करता – व्याकरण जैसे आर्ष-प्रयोग पर सिर झुका लेता है, वह भी 'तपोधन' की ओर कातर दृष्टि से देखता रह गया...

बड़े पुजारी थे 'सत्य' के वह 'तपोधन'। 'सत्य' को ही 'परमात्मा' समझ कर संसार में जिसकी व्यापक प्राण-प्रतिष्ठा का व्रत धारे वह घूम रहे थे, आज उसी से आँखें चुराने में उन्हें झिझक न हो रही थी। तर्क तैयार था उसके लिए भी, शास्त्र नजीरें भी पेश कर रहा था आत्म-तोष के लिए, फिर भी आत्मा उनकी छटपटा रही थी—नहीं, नहीं—यह पक्षपात ठीक नहीं...

किन्तु 'पक्षपात' जरूरी था; क्योंकि, 'गिरि' सामाजिक दृष्टि से एकदम भिन्न थी, उसकी स्थिति विशेष बर्ताव की माँग कर रही थी—और, वह बर्ताव उसके पिता की पद-प्रतिष्ठा से सम्बद्ध था...

'तपोधन' सत्य के कितने भी कट्टर भक्त क्यों न रहे हों, फिर भी वह 'सत्य' सूक्ष्म था—और, समाज सिर पर सवार था...

और भी एक महान् सत्य किसी अज्ञात लोक से बोल रहा था—जो

जितना निकट होता है; कृपा या कोप का वह उतना ही अधिक अधिकारी बन जाता है। मानवोत्तम राम ने इसीलिए सती सीता को निर्मम होकर चुपचाप जंगल भेज दिया, किन्तु उस निन्दक धोबी को कुछ न कह सके! स्पष्ट था—सीता पर जो अत्याचार हुआ, वह अपने ऊपर था, जैसे आकुल होकर आदमी छाती-सिर पीट लेता है—अपने ही गालों पर थप्पड़ मार लेता है!

'अण्णा' भी सामाजिक दृष्टि से वैसा ही अकिंचन, अपनी दृष्टि से वैसा ही निकट और वैसा ही अत्याचार का अधिकारी दीख रहा था...

नींद कब और कैसे आ गई 'तपोधन' को, कोई पता न चला—सोचते-सोचते ही वह गहरी नींद में चले गए...

नींद कब तन्द्रा में बदल जाती है—और, आदमी कब स्वप्न-लोक में भ्रमण करने लग जाता है, इसका रहस्य अब तब अगम ही बना हुआ है।

'तपोधन' ने स्वप्न-मुक्त होने का विशेष प्रयत्न किया था। उनकी मान्यता थी—कि स्वप्न वासना-विकार के ताना-बाना मात्र हैं। जीवन की सरल-साधना से आदमी जैसे-जैसे विकार-विमुक्त होता जाएगा, उसकी नींद भी उतनी ही स्वप्न-शून्य होती जाएगी।

सुषुप्ति को वह गहरी नींद ही मानते थे—जब आदमी कोई सपना नहीं देख पाता है, तभी वह बेखबर सोता है। 'तपोधन' को वैसी नींद आ रही थी और अज्ञात रूप से अपनी साधन-सफलता पर उन्हें कुछ आत्म-तोष या गर्व भी हो रहा था...

किन्तु...

किन्तु आज 'आश्रम' सहसा यों गमगीन क्यों हो गया है, आश्रम-वासी यों भयाकुल क्यों दीख रहे हैं, इधर-उधर लोग जाने कैसी काना-फूसी क्यों कर रहे हैं?

क्रमशः एक कान से होकर बात दूसरे कान में पहुँची—और, अन्तरंगों में से एक ने जाकर साहस के साथ 'तपोधन' से कहा :

'इस चिन्ता से आप नाहक परेशान क्यों हो रहे हैं? यह तो जीवन-ज्योति का दर्शन है—विकृत विकार का नहीं। विकार पर तो काबू है ही

आपको। आप अगर इसे 'काम' कहते हैं तो भी निराश होने की कोई बात नहीं है। 'काम' जीवन का अगर जहर है, तो फिर अमृत किसे कहा जाएगा? 'काम' ही तो जीवन को जीवन्त रखता है। आप में वही अमृत यह घोषणा कर रहा है—कि आप अब भी बहुत कुछ कर सकते हैं। 'स्वप्न-दोष' से तो वह डरे, जो भोग-लालसा से प्रेरित रहता है। 'काम' न हो, तो काम करने की शक्ति ही किसी को कहाँ से आए ?...'

अपने परम-प्रिय अनुरक्त के उस समाधान को 'तपोधन' शान्त भाव से सुनते रहे—और, फिर धीरे-धीरे बोले :

'तुम्हारे कथन में बहुत कुछ सार है, फिर भी इतना तो स्पष्ट है—कि स्वप्न पर मेरा अधिकार अब तक सुस्थिर न हो सका है; और, अवश्य इसमें बाहरी परिस्थितियों का हाथ है ··निर्विकार रहकर मानव-सेवा का व्रत कितना कठिन है—इसका बोध ही आज मुझे यों पस्त कर रहा है। मैंने अपने जीवन को मानव-जीवन में मिलाकर जीवन के चरम लक्ष्य को पा जाना चाहा था। इसी से साधना-आराधना के पुराने परिचित प्रयोगों से कतराकर सत्य, सेवा और प्रेम को पकड़ा था। तुम लोगों को जमा किया था और सबके जीवन में ममता से झाँककर अपने जीवन को कृतार्थ करना चाहता था। परन्तु यह 'स्वप्न-स्खलन' क्या इंगित करता है···नहीं, अब मैं किसी की कोई बात नहीं सुनूँगा, किसी की कोई चिन्ता न करूँगा, किसी के जीवन में नहीं झाँकूँगा, न किसी के काम में कोई दखल ही दूँगा—मुझे पहले खुद सबल होना है, सपनों पर अधिकार करना है। अतः आज से, जबतक अन्तर्ध्वनि नहीं होती है, मौन और उपवास रहकर मैं अन्तर्यामी को पुकारूँगा—मेरा यह अटल निर्णय है।'।

मौन, उपवास, उदासी और काना-फूसी—आश्रम के वातावरण में आज जहाँ-तहाँ यही तसवीर खड़ी दीख पड़ती थी।

—:०:—

वेटिंगरूम

'तरुण' आज-कल सब कुछ भूलकर लिखने-पढ़ने में व्यस्त दीख रहा था। कम बोलता था, कम इधर-उधर देखता था, बहुत कम कहीं आता-जाता था। लेकिन तीन बजते-बजते वह कुछ चंचल हो जाता था—और, जब-न-तब नहर के उस पार की सड़क पर उसकी दृष्टि दौड़ जाती थी। जरुरत न महसूस होने पर भी कागज-कलम ज्यों-का-त्यों रखकर वह उठ खड़ा होता था और कुछ दूर तक यों ही चहल-कदमी भी करने लग जाता था। बीच-बीच में कई बार कलाई उलट कर घड़ी भी देख लेता था—और, फिर साँस खींच कर अपनी छोटी मेज पर आ बैठता था। देखते-देखते उसकी चंचलता तन्मयता में बदल जाती थी और कागज-पर-कागज काला करता चला जाता था।

लेखन का उसका वह क्रम कई दिनों तक यों ही अविराम चलता रहता था। साथ ही उसकी वह चंचलता भी अनिवार्य रूप से उसे ठीक समय पर घेरती रही—और, धीरे-धीरे उद्विग्नता में बदलती चली।

उद्विग्नता कभी-कभी असंभव और उटपटांग कल्पना भी कर बैठती थी—और, वह मन-ही-मन सोचने लग जाता था—क्या आज-कल डाकघर में हड़ताल है?...या किसी ने साजिश करके उसकी डाक ही रुकवा दी है?... फिर अपनी बेवकूफी पर वह आप ही हँसने भी लग जाता था—कैसा दुर्बल होता जा रहा था उसका मन!...

दिन-पर-दिन बीतने लगे। हड़ताल-पड़ताल की कोई सूचना कहीं से न मिली। कभी-कभी डाकिया कुछ दे भी जाता था, पर वह चीज नहीं लाता था—जिसकी उसे प्रतीक्षा थी।

उद्विग्नता ने फिर एक नया शिगूफा छोड़ा—'क्या वह चिट्ठी कहीं बीच से ही तो गायब न हो जाती है!...तो क्या जो डालने जाता है, नागम्मा ने उसी को वश में कर लिया है?...या उसके पिता के प्रभाव से पोस्टमास्टर ही उस खास चिट्ठी को ही रोक लेता है?...'

तय तो यही था—कि मिनिया ही चिट्ठी गिराने जाएगी और सो भी खास एक दिन। मिनिया को कोई अपनी मुट्ठी में कर सकेगा, इसकी शंका उठ ही नहीं सकती थी किसी के मन में।...'तो क्या यहाँ कोई भेदिया है—जो रास्ते से ही गायब कर देता है!'

असंभव कुछ भी नहीं था।

उद्विग्नता ने दूसरी करवट ली—'क्या उसके ऊपर कोई जोर-जुल्म हुआ—और, वह बदल गई अपनी बात से?'

असंभव कुछ न था।

'पिता से न कहती, परन्तु उसे तो आगाह कर देती—यों चिन्ता और शंका में तो न झुलाती भला ...

'मगर 'तपोधन' क्यों चुप हैं? उन्होंने भला पत्रोत्तर क्यों न दिया—बुलाया ही क्यों न? उनके सामने कौन सी अड़चन आ खड़ी हुई भला?...तो क्या बात आई-गई हो गई ...

यह भी असंभव न था।

तो अब उसका कर्तव्य भला क्या है—क्या वह भी हाथ धोकर चुप बैठ जाए?...फिर परीक्षा की बात का क्या होगा—जिसका भार उस पर डाला गया था—और, जिसके लिए इतनी मेहनत करके उसने इतने पन्ने रँग डाले हैं!...क्या 'बुक पोस्ट' से भेज दे उस नोट को—बगैर किसी नाम-धाम के, जिस से कोई पता न पा सके—कि कहाँ से किसने भेजा है? अपनी जिम्मेवारी तो वह पूरी कर ले।...हठात् बिजली की तरह उसको वह बात भी आँखों में नाच उठी—'अब तुम्हारे पराक्रम की बारी है।'...

तो क्या वह अपना पराक्रम दिखाए अब—जाए, और जाकर सामने खड़ा हो जाए?...या सीधे वहाँ पहुँच जाए, जहाँ वह हो—जिस हालत में हो—और, अन्तिम साँस तक वहाँ से न उठे...

या फिर 'तपोधन' के पास ही चला जाए—और, सारा वृतान्त खोल कर रख दे उनके सामने?...उनसे कुछ छिपाना भी तो भारी अनुचित ही होगा ...

लेकिन आत्मा कुण्ठित हो उठी—नहीं, इस समय गुरु से भी ऊँचा स्थान है उस असहाया अबला का—उसकी इच्छा-अनिच्छा जाने बिना वह किसी के पास नहीं जाएगा।...और, छिपाया तो है नहीं—जो कुछ कहना था, उस पत्र में लिख ही दिया था। जिज्ञासा रहती तो जवाब देते या बुला भेजते...

अनुरक्ति के आहत-अभिमान ने विरक्ति को उकसा दिया—'किसी से कुछ सुना, तो अपने आदमी से उसकी सचाई जान लेते—सीधे जाकर उससे क्यों पूछ दिया उन्होंने ? इतना ही नहीं, उसके पिता को क्यों भड़का दिया ? क्या यह उनका कोई नहीं था ?...नहीं, अब वह उनके पास कभी नहीं जाएगा—बुलाने पर भी नहीं...'

तो फिर और क्या करे वह ?''''सीधे जाने से हंगामा होने का डर था, न जाने से कायरता टपकती थी—और, वह उससे पराक्रम की माँग कर रही थी !

आ तो गए ही होंगे वह, पत्र भी मिल ही गया होगा, नागम्मा चुप होगी नहीं—फिर उन्होंने अपनी लाड़ली से कुछ पूछा ही होगा।...इस बार तो वह कदापि झूठ नहीं बोली होगी ! फिर यह महाशय यों चुप क्यों हैं—उसे बुलाते क्यों नहीं ? ऐसे जहर को पीकर चुप कैसे हैं—उबलते-उफनते क्यों नहीं ?—आते या बुलाते क्यों नहीं ?...

मान लिया जाए—वह चुप रह गए, न आए और न उसे बुलाया ही। तब वह क्या करे—क्या वह भी चुप रह जाए ? उसकी याद ही भुला दे ?...नहीं, यह तो पहले दरजे की कापुरुषता होगी—और, वह तो उसके पराक्रम की माँग कर रही थी..

सोचता रहा। सोचते-सोचते उसके ध्यान में आया—कि उसके पिता के साथ वह पत्राचार क्यों न शुरू कर दे; क्यों न सारी बात खोलकर उनके सामने वह रख दे ?...

पत्राचार—हाँ, पत्राचार ही सबसे सुगम उपाय है समस्या को सुलझाने का। सब कुछ जानकर वह शान्त और सुस्थिर मन से निर्णय करेंगे। न हंगामा होगा, न वह कायर ही कहलाएगा।

खूब उलट-पुलट कर सब पहलुओं पर विचार किया और अन्तिम निर्णय पर पहुँचा—

'वह भी कहना चाहती ही है उनसे, पर संकोच के कारण नहीं कह पाती है। मेरे पत्राचार उसके संकोच की भी रक्षा करेंगे और समस्या भी सुलझ जाएगी। बहुत होगा, तो मेरे पत्र वह उसके हाथों में रख देंगे। फिर वह या तो मौन रह जाएगी या अपनी सहमति प्रकट कर देगी। उसके बाद तो वह उसे बुलाएँगे ही।'

'पूज्यवर पिताजी, सादर प्रणाम।

पत्र देखकर पहले आप सहज ही चौंकेंगे मेरी धृष्टता पर। फिर भी जब जीवन की पुकार तीव्र हो उठती है, तब संकोच का बन्धन तोड़ना ही पड़ता है! अतएव मेरी ढिठाई माफ करके जीवन की सचाई का दर्शन धैर्य के साथ करें—और, साहस के साथ परिस्थितियों का सामना करें। निर्णय आपके हाथों में है—समस्या भी आपकी अपनी ही है।

'तपोधन' का पत्र आपको मिला होगा और जीजी ने भी कुछ बताया ही होगा। संकोच के कारण उसका मुँह भले ही न खुला हो। 'तपोधन' के पत्र से आपके मन में संभवत: मेरे प्रति क्षोभ और क्रोध का संचार हुआ हो—और, आप मुझे खूब कोस भी रहे हों। आपके ऐसे पिता के लिए यह बिलकुल स्वाभाविक है। मेरे प्रति आपकी जैसी धारणा थी, उसके विरुद्ध बातें सुनकर आपके अन्तर में जो हलचल पैदा होगी, उसकी कल्पना मैं कर सकता हूँ। फिर भी यह जीवन की माँग है और आपको धैर्य-पूर्वक मेरी बातें सुननी है।

यह सच है कि जो बातें 'तपोधन' के कानों में पड़ी थीं हम दोनों के सम्बन्ध में—वे झूठी न थीं। लेकिन किसी कमजोरी के कारण उनके सामने उस समय 'गिरि' झूठ बोल गई—जिसका पछतावा उसे हो रहा है। आप एकान्त में उससे बातें करके सच-झूठ की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

पत्रोत्तर की प्रतीक्षा में—

आपका विनम्र पुत्र'

इधर कई दिनों से रात-दिन लगातार बारिश हो रही थी। लगता था—किसी महा धनुर्धर ने तीक्ष्ण तीरों से आसमान के कलेजे को छेद दिया था। न जाने नीले नभ के अन्तर में कौन-सी व्यथा फूट पड़ी थी, जो रुकना नहीं जानती थी—और, सहानुभूति प्राप्त करने के लिए चुपचाप धरती की छाती से लिपटी चली जा रही थी! हवा का कहीं नाम न था—बूँदों के आघात से जैसे वह भी बेजार बन गई हो। दिन में न धूप निकलती थी, न रात में चाँदनी ही छिटकती थी। सारी सृष्टि ही जैसे किसी गूढ़ अवसाद, विषाद और व्यथा के भार से फट रही थी।

नदी उमड़ी, नाले उमड़े, ताल-तलैया सभी एक हो गए। शून्य की सूक्ष्म कचोट ने धरती की सभी सम-विषम दरारों को भर दिया—और, यह पगली भी समवेदना से फूलकर फफकने लग गई थी।

अकिंचन की वह कुटिया भी चुपचाप आहें खींच रही थी। 'तरुण' की वह 'आत्मीया' मीयादी बुखार में पड़ी थी—और, हालत सुधरती नहीं दीख रही थी। लोग चिन्तित थे।

उधर कृष्णा-कुमारी कुटिया को बहा ले जाने के लिए बेचैन बनी हुई थी।

घबराहट का आलम था। मगर 'तरुण' की तत्परता देखने लायक थी। किसी से कुछ नहीं बोलता था, परन्तु इतने धैर्य से दौड़-धूप कर रहा था, इतनी सुस्थिरता से दवा-दारू दे रहा था, इतनी मुस्तैदी से फावड़े चला रहा था कुटिया के चारों तरफ—कि उसका वह उदासीन 'आत्मीय' भी अचरज में आ जाता था।

'तरुण' का वह 'आत्मीय' उमर में छोटा था, पर अक्ल में चौगुना। बोलता कम था, मगर गुनता था बहुत अधिक। 'तरुण' को उसकी होशियारी और अपनेपन का बहुत भरोसा था। जो बातें वह किसी से नहीं कह पाता था, अपने उस 'आत्मीय' से निस्संकोच कहता आया था। उसे वह अपना अभिन्न अंग ही मानता था और उसके बिना अपने जीवन की कल्पना ही उसे सूनी मालूम देती थी। लेकिन उस होशियार की अपनी दुनिया थी, अपनी कल्पना थी, अपना ताना-बाना था—जिससे मूर्ख 'तरुण' बिलकुल अनभिज्ञ था।

'आत्मीया' को 'तरुण' ने बड़े प्यार से देखा था। दोनों को अपनी आँखों की पुतली ही बनाकर रखा था। उन्हें शिक्षित और सभ्य बनाने का श्रेय भी उसी को था। फिर भी वह निरपेक्ष प्यार बाँटता आया था। उनसे कुछ पाने की भावना उसमें नहीं जगी थी; क्योंकि, उसे देने में ही आत्म-गौरव प्राप्त होता था — लेने में नहीं।

सहज औदार्य चालाक लोगों की दृष्टि में बेवकूफी बन जाता है—और, जैसे आम को चूसकर गुठली फेंक दी जाती है, होशियार भी संसार के प्रति प्रायः ऐसा ही रुख रखता है। जहाँ तक जिससे मिल सके, ले लो—बाद, नजर बदल दो।

'तरुण' दुनिया की इस होशियारी से परिचित न हो, ऐसी बात न थी। परन्तु वह अपने नेह को निभाना जानता था—और, उस सुख को सबसे बड़ा सुख मानता आया था। अपने इन 'आत्मीयों' के प्रति उसका यही भाव था।

अब तक वैसा कोई भेद-भाव गोचर न हो सका था—दूध-चीनी की तरह सब लोग घुले-मिले आ रहे थे। 'तरुण' ने जो कमाया, आत्मीयों के हाथ में ही रखा था। कुछ दिन 'आत्मीयों' ने भी वही किया—जो कुछ मिला, 'तरुण' के हाथों में रख दिया।

परन्तु इधर कुछ दिनों से वह अकचकाने जरूर लगा था; क्योंकि, जब से व्यवस्था का भार उन लोगों ने अपने हाथों में लिया, तब से वह निरपेक्ष होता चला—और, उस निरपेक्षता का उन लोगों ने मन-ही-मन स्वागत-ही किया।

'तरुण' चौंका तो जरूर, पर अपनी गति-विधि में कोई परिवर्तन न कर सका—निरपेक्षता का सूत्र मजबूती से पकड़े रहा। लेकिन 'रमा' की बातों से वह कुछ सोच में अवश्य पड़ जाता था—और, जब-न-तब कुछ अस्थिर भी हो उठता था—कैसे अलग रह सकेगा वह इन लोगों से...

बारिश बन्द हुई। कृष्णा-कुमारी भी संयत हुई। कुटिया के आँगन से पानी हटा—और, हटा वह मीयादी बुखार, जिसके कारण 'तरुण' की नींद हराम हो गई थी।

इधर दिन-पर-दिन बीतते जा रहे थे, परन्तु पत्रोतर का पता न था।

रमा किस हालत में है, यह जानना जरूरी था। इसके लिए उसकी आत्मा बेचैन थी ! डर था – घबराकर कहीं वह प्राणों पर न खेल जाए !

उसने दूसरा पत्र लिखा :

'पूज्यवर, प्रणाम।

पन्द्रह दिन पहले आपकी सेवा में एक पत्र भेजा था। मिला तो होगा ही। परन्तु पत्रोत्तर न आने से मैं बेचैन हो उठा हूँ। अब अधिक प्रतीक्षा संभव नही है। तुरत जवाब दें— अन्यथा मैं दुर्निवार की भाँति पहुँच जाऊँगा। आप सज्ञान हैं और जीवन की पुकार का मर्म समझते हैं। आपके पास मैं जाकर भी क्यों लौट आया – और, अब तक क्यों रुका हुआ हूँ— किसकी इच्छा-अनिच्छा से संचालित हो रहा हूँ, यह भी आप से छिपा नहीं होगा। कृपया शीघ्र अपने निश्चय से मुझे अवगत करें।

आपका आज्ञाकारी'

इसी तरह का एक पत्र उसने रमा के नाम से भी दिया—और, बड़ी उतावली से जवाब की बाट जोहने लगा।

तीसरे दिन एक पत्र आया, लेकिन वह उसके नाम का नहीं था— उसके 'आत्मीय' के नाम का था। उसमें 'तरुण' की कोई चर्चा न थी—बुलाया गया था अकेले उस 'आत्मीय' को। बड़ी सावधानी बरती गई थी—'तुम' को रेखांकित कर दिया गया था, जिससे दूसरा कोई उसके साथ न जा सके।

'तरुण' ने 'रमा, के पिता का वह पत्र देखा—और, वह ऐंठ कर रह गया —'मुझसे इतना परहेज़ !'

'आत्मीय' को 'तरुण' से आज्ञा लेने की कोई जरूरत न थी; क्योंकि, वह उसके नाम का निजी पत्र था। फिर भी पूछ करके ही वह गया और दूसरे दिन लौट आया।

लौट कर उसने जो संवाद दिया, वह बड़ा ही विचित्र था। बहुत-कुछ कहने-सुनने के बाद पिता ने उस 'आत्मीय' से कहा—'तुम खुद उससे बात कर लो।'

रमा बुलाई गई—और, उसको देखते ही अनाप-शनाप बोलने लगी। सारांश इतना ही था—कि अब वह पुरुष-मात्र से घृणा करती है और किसी से कोई बात करना नहीं चाहती।

'तरुण' उस घृणा का मर्म न समझ कर अगम्य भावों में भटकने लग गया :

'इस प्रकार की घृणा तो वह पहले भी कई बार प्रकट कर चुकी थी। अवश्य इसमें कुछ गूढ़ रहस्य है। संभव है, मेरे बदले 'आत्मीय' को देख कर उसका गुस्सा भड़क उठा होगा।'

आँखों देखी बात 'आत्मीय' कह रहा था, पर 'तरुण' को जरा भी विश्वास न हो रहा था। वह मर्माहत था, हताश था, आहत-अभिमान था; पर उसकी आत्मा कह रही थी—'यह सब झूठ है!'

लेकिन अब तो चुप हो जाने के सिवा दूसरा कोई चारा था नहीं। इस लिए मन को मार कर 'तरुण' अध्ययन-अध्यापन में लग गया।

कभी-कभी परीक्षा का वह नोट—जिसे उसने इतने परिश्रम से तैयार किया था—उसे चंचल कर देता था।

'क्या किया जाए इसको—फाड़कर फेंक दिया जाए—या डाक से भेज ही दिया जाए?'

एक दिन जाने कैसी प्रेरणा हुई और 'बुक पोस्ट' से उसने वह नोट भेज ही दिया रमा के नाम से।

तदनन्तर धीरे-धीरे यह सोच कर वह हलका होने लगा कि वह सुखी रहे। जब घृणा ही उसे सुखी बना सकती है, तब प्यार की बात को भुला देना ही श्रेयस्कर है।

दिन यों आने-जाने लग गए—जैसे संसार में कोई घटना घटी ही न हो। कैसा निष्ठुर विधान है इस जगत् का—इतना बड़ा काण्ड हो गया, इतनी बड़ी उथल-पुथल हो गई, इतना बड़ा आघात लग गया निर्दोष हृदय पर, इतनी आह-कराह हुई, इतने आँसू बहे, इतने उच्छ्वास उठे, इतना प्रेम, इतनी घृणा—और,

दुनिया फिर ज्यों-की-त्यों—जैसे कहीं कुछ हुआ ही न हो !

सत्य और स्वप्न में क्या अन्तर है—'तरुण' समझ नहीं पा रहा था। कलतक जो सत्य था, आज एकाएक स्वप्न कैसे बन गया—कैसा निस्सार है यह मानव-जीवन...सचमुच मानव के किसी कार्य का कोई महत्त्व नहीं है—सब कुछ बच्चों का घरौंदा-ही-घरौंदा है !...

ध्यान आया माँ का वह प्यार, पिता की आशा और प्रसन्नता-भरी पुचकार— और, पुत्र की यह उपेक्षा...सब को भूलकर फँस गया नकली माता-पिता और भाई-बहन के इस मायामय संसार में—कहाँ चला गया यह नकली संसार ?...

सच, मनुष्य-सा निर्मम, निर्दय, और कृतघ्न दूसरा कोई जीव नहीं होता है।...क्यों छोड़ा उसने उस प्रेम-कातरा माँ को—क्या पाया उसने इस नए संसार में, जिसका रंग देखते-देखते यों उड़ गया !...

विरक्ति की बाढ़ आई और अनुरक्ति को बहा ले गई उदासीनता के महासागर में।

आकाश निर्मल हो गया था, किन्तु उसका रंग बदल गया था—उड़ते सफेद बादल उसकी उदासी को ही प्रगट कर रहे थे। सर-सरिता के जल भी शान्त और निर्मल हो चले थे, परन्तु बरसात में जीवन की जो उमंग-तरंग उमड़ी थी—कितनी लुभावनी थी। नदी का वह भँवर ही भला कितना चित्ताकर्षक जान पड़ता था। प्रखर-प्रवाह में नावों का वह बेपतवार भागना, भँवर में चक्कर काटना, ऊबना-डूबना, हाहा-हीही, चीख-चिल्लाहट, आँसू-क्रन्दन—यही जीवन है; और, वही जीने लायक है। मौन, शान्ति निष्क्रियता मृत्यु का चिह्न है—और, हलचल, खतरा, बवण्डर जीवन का ज्वलन्त रूप है।...नहीं, वह मुर्दा होकर जीना नहीं चाहता।—आए तूफान, आए बढ़िया, आए भूकम्प—और, उठाकर फेंक दे उसे अगम्य संघर्ष में अनन्त काल तक जूझने के लिए। वही होगा उसका जीवन-प्रभात !

यों जीवन के बदलते नक्शे में मक्खी-मकड़ी की तरह भटकता-घूमता, रीझता-खीझता, उलझता-सुलझता 'तरुण' मन की नैया खेता चला जा रहा

था—कि एक दिन एक लिफाफा उसके हाथ में पड़ा—ओर, और, पते के अक्षरों को पहचान कर उसके हृदय की धड़कन बढ़ गई और आँखों पर जल्द विश्वास नहीं हुआ।

लगता है—जैसे उसीका हो...न—वह अब क्यों लिखने चली उसको... दुर्बल मूढ़ता—मिथ्या आशा—आत्म-छलना !

काँपती उँगलियों और खुलती-झँपती आँखों से उसने लिफाफा फाड़ा और पढ़कर उछल पड़ा—'अरे, यह तो उसी का है।'

रमा ने लिखा था :

'सोचा था—घृणा के बदले आकर तुम मुझे खींच ले जाओगे उनके पास—और, यों नाटक का पर्दा उठ जाएगा। क्योंकि मेरे गुस्से और घृणा का मर्म तो तुम अच्छी तरह समझ ही चुके थे।...लेकिन देखती हूँ—तुम फिर चूक गए; दुर्बलता के दल-दल से मुझे खींच न सके। और अब तो एक नहीं, दो-दो बार सील-मुहर पड़ गई मेरी जिन्दगी के सपने और सत्य पर। तपोधन के सामने झूठ बोली ही थी, पिता के सामने भी वही बात घट गई। लगता है, अब मेरी जिन्दगी इसी घुटन-कुढ़न में बीत जाएगी।...जो भी हो, तुमने जो नोट भेजा है, उसे देखकर मैं सोचने लग गई हूँ—जिसके आँगन में कल्पतरु हो, वह अपने को यों दीन-हीन क्यों समझे ? मैं कृतज्ञ हूँ—और, आजन्म रहूँगी—तुम्हारी ही।'

'आत्मीय' ने जब वह पत्र देखा, तब चक्कर में आ गया। बोला तो कुछ नहीं, पर चमत्कृत होकर बड़ी देर तक गुन-धुन करता रह गया।

इधर 'तरुण' की आँखों में नई ज्योति आ गई, कानों में श्रवण की रसीली शक्ति संचरण करने लगी, छाती की धड़कनों में नई उमंग उछल पड़ी और हाथ-पाँव में विचित्र फुरफुरी मालूम होने लगी।

उसका अन्तर आप-ही-आप ध्वनित होने लगा—'नहीं, रमा बदल नहीं सकती है—वह उसी की है—और, आजन्म उसी की रहेगी।'

कितना सुख, कितनी शान्ति, कितना हर्ष—और, कैसी गहरी गर्वानुभूति !

...कौन कहता है— वह अभागा है, कौन कहता है—वह तिरस्कृत है, कौन कहता है—वह जीवन की बाजी हार गया ?...

'आत्मीय' के साथ वह क्यों न चला गया—अवश्य वह चूक गया।... सज्जनता और सुरुचि की भावना के अन्दर उसकी कायरता ही झाँक रही थी— नहीं तो वह खूब जानता था कि उस बुलाहट में कैसी चालबाजी भरी थी !... मामला उसका—और, बुलाया जाए—वह अदना !...

अपने ऊपर रोष और क्षोभ से वह भर गया—क्यों वह बार-बार जिन्दगी की बाजी हार जाता है—यों मौके से चूक जाता है ? और जान-बूझ कर अभागा बन जाता है ?...

फिर उसका गुस्सा उसके बाप पर उभरा—क्यों उस गर्वीले ने सीधे उसे नहीं बुलाया—उसके 'आत्मीय' को क्यों बुलाया ?...खूब जानता था—कि वह आएगा, तो मामला संगीन हो जाएगा। निर्मम, निष्ठुर—जरा भी दया नहीं है अपनी पुत्री पर—कि वह क्या चाहती है अन्तर से...

फिर उसने दुर्दैव और दुर्भाग्य को कोसना शुरू कर दिया...

मानव पुतले के साथ नियति-नटी का यह कैसा अनूठा नाच था—कभी गर्व तो कभी खर्व; कभी हर्ष-हिल्लोर तो कभी विषाद की बहिया; कभी सरकते बादलों पर सैर-सपाटा, तो कभी खन्दक-खाई में औंधे-मुँह पतन !...

लेकिन 'तरुण' को इसी नाच में जिन्दगी और जिन्दा-दिली दीख रही थी। दुनिया में कोई सहारा नहीं है उसके लिए—घर-बार छोड़ा, नौकरी-चाकरी की चिन्ता छोड़ी, 'तपोधन' की पुकार पर दूर-दूर भटकता फिरा, संयोग से एक नया घर बसाया, नया संबंध जोड़ा और फिर सब को उजाड़ा और तोड़ा। चारों ओर अँधेरा है उसके लिए—फिर भी यह कैसी ज्योति जगमगा रही है—जो कभी एकाएक पास आ जाती है—और, फिर देखते-देखते जाने कहाँ विलुप्त हो जाती है !...और, वह दौड़ रहा है उसी मृग-जल के पीछे—यों सब कुछ भूलकर !

जो भी हो, पर वह 'तरुण'—दौड़ना छोड़ेगा नहीं, भले ही साँस छोड़ दे। मृग-जन्म की सार्थकता जैसे उस दौड़ में छिपी रहती है, उसकी दृष्टि में मानव-जीवन की कृतार्थता भी किसी के प्रेम की आशा में फूली फिरती है। भले ही

वह प्रेम प्रकाश में न आए, पर अनुभूति तो बनी रहे—कि कोई कोमल प्राण उसके लिए रोता है! जिसने वह पवित्र प्रेम नहीं पाया, वह भी क्या आदमी है?...आदमी होना तो दूर, वह तो मृग भी नहीं है!...

तो फिर चौकड़ी भरता रहे यह मृग-मूढ़ जीवन के परपट पर :

'पूज्यवर, प्रणाम।

आपने मुझे न बुलाकर उसे बुलाया—तभी आपकी नीयत मेरे सामने स्पष्ट हो गई। असलीयत से तो आप वाकिफ हैं ही, फिर भी मेरे साथ आँख-मिचौनी का यह खेल आप कर रहे हैं! मुझे जिसका बल है, वह आपके ऊँचे महल में घिरी हुई है, परन्तु उसकी आत्मा कहाँ है, आप इसे खूब जानते हैं। मैंने आपकी सज्जनता पर भरोसा रखा, लेकिन उसका उलटा फल चखना पड़ा मुझे। आपने मेरी अनुपस्थिति में जो नाटक दिखाया मेरे उस 'आत्मीय' को, उसका खोखलापन मेरे सामने खुला हुआ है। मैंने 'तपोधन' को लिख दिया है, आपको भी सूचित कर दिया है—और, यह अन्तिम पत्र है। अगर आपने इस पर कोई ध्यान न दिया, तो फिर हंगामा हो—इसके लिए भी तैयार रहिए। 'गिरि' मेरी है; उसके पास आने से मुझे फिर कोई रोक नहीं सकेगा इस दुनिया में—यह भी जान रखिए। हंगामा उसे पसंद नहीं होगा—प्रतिष्ठा चूल्हे-भाँड़ में जाएगी; इसी लिए मैं अब तक यों आवेदन-निवेदन के पथ पर चलता रहा हूँ। लेकिन अब मैं उससे दूर नहीं रह सकता—और, सभी सीमाओं का उल्लंघन करता उसके पास पहुँच जाऊँगा। यह पत्र केवल उसकी सूचना मात्र है।

आपका'

पत्र पोस्ट करके खतरे की कल्पना से वह यों पुलकित होने लगा—जैसे कोई देश-प्रेमी फाँसी के तख्ते पर चढ़ने का मंसूबा बाँध रहा हो।

मातृ-भूमि अपने शहीदों की शहादत देख नहीं पाती है, लेकिन इसके ऊपर जब आघात होगा और वह हँसते-हँसते सब को झेलेगा, तब यह जानकर उसे

कितना गर्व होगा—कि उसकी प्रेमिका यह सब देख रही है अपनी आँखों से !

वह पराक्रम देखना चाहती थी—तो, जी-भरकर देख ले। पराक्रम केवल दूसरों की दुर्गति करने में नहीं देखा जाता, अपने ऊपर उसके सहने में भी देखा जाता है। उसकी आत्मा कितनी कृतार्थ हो उठेगी—जब रमा के सामने ही इस नश्वर शरीर की धज्जियाँ उड़ जाएँ...अहा, कितना सुखान्त होगा उसका वह मरण !...

अचानक ध्यान आ गया—कहीं यह सब अत्याचार उसे बर्दाश्त न हो; और, वह गले में रस्सी लगा ले—या जहर खाकर सो जाए—तब...?...तब तो सब खेल ही खतम हो जाएगा और उसकी सारी दुर्गति बेकार चली जाएगी...

नहीं, वह ऐसी मूर्खता नहीं करेगी—अपनी जान नहीं देगी; बल्कि करेगी यह—कि जब आपे से बाहर हो जाएगी, तब आकर सबके सामने मेरा हाथ पकड़ लेगी—और, खींचकर ले जाएगी अपने कमरे में...

सच्चा शहीद ऐसी तुच्छ कामना नहीं करता—नहीं, उसे तो कठिन-से-कठिन अत्याचार झेलने में ही आत्म-सुख मिलता है।...वह देखती रह जाए या और भी ललकार दे—जैसे शिकारी अपने कुत्ते को ललकार देता है शिकार पर!

इस प्रकार 'तरुण' कल्पना-लोक में विचरण कर ही रहा था—कि डाकिए ने आकर तीन पत्र उसके हाथ में रख दिए।

एक कहता था—'तपोधन' का वह चोगा वाला उसकी कुटिया में आ रहा है—अपनी एक रिश्तेदारिन के साथ। दूसरे में उसके आत्मीय को मद्रास बुलाया गया था—एक अच्छे पद पर। और तीसरा कह रहा था—'शाम को स्टेशन के 'वेटिंग-रूम' में मिलो—अकेले।'

शहादत की कल्पना के सारे महल जाने कहाँ विलीन हो गए। जादू का एक नया संसार सामने आ खड़ा हुआ—क्यों आ रहा है 'तपोधन' का वह दूत। क्या भेदिया बनकर आ रहा है—अथवा 'तपोधन' का कोई गूढ़ सन्देश सुनाने आ रहा है ?...

और, यह प्रिय-परिवार अब उससे अलग हो जाएगा ?...हाँ, जाए—छाया से हटकर अपना स्वच्छन्द विकास करे। साथ में कई संकोच थे—अर्थ-

संकोच, वाणी-संकोच और एहसान-संकोच। अब सब संकोचों से दूर हो जाए।

तुरत स्मरण हो आया किसी महान् लेखक का वह कथन—'आदमी भारी-से-भारी भार आसानी से उठा सकता है, परन्तु एहसान का हलका बोझ भी उससे उठाए नहीं उठता।'

प्रिय है प्राणों का और गहरी ममता से पाला-पोसा है—इन अनाथों को उसने। अब तक सहवास का संकोच ही प्रसाद रूप में इन्हें मिलता आया है। अब उन्मुक्त वातावरण में ये सुख-पूर्वक बढ़ें, उड़ें। इनको सुखी देखकर 'तरुण' कितना सुखी होगा!···

और भी एक बात सामने आ खड़ी हुई—सुख बाँटकर भोगा जाए, पर कष्ट के दिन सब से अलग रहकर अकेले-अकेले काटे जाएँ।···अभी तो वह खतरे और शहादत की कल्पना ही कर रहा था—फिर यह अधखिला फूल क्यों उस बवण्डर में पड़े?···

यों उसने उन दोनों को तैयार हो जाने का आदेश दे दिया। मगर 'आत्मीय' ने आकर निवेदन किया—'शुभ दिन देखकर यात्रा करना ठीक होगा'

'वेटिंगरूम' में, और सो भी 'सन्ध्या' के आवरण में—क्या वह भी साथ है उनके?···फिर इस कुटिया में क्यों नहीं आ रहे हैं?····और यह 'अकेले' का संकेत क्यों—यह चुप-चोरी?···

यों गुन-धुन करता वह ठीक सात बजे स्टेशन पर पहुँच गया। चूँकि 'वेटिंगरूम' खुला नहीं था, इसलिए वह प्लेटफार्म पर चहल-कदमी करने लग गया पुरानी स्मृतियों के साथ लड़ता-झगड़ता।··

मद्रास-मेल के आते ही वह 'वेटिंगरूम' में आ गया और चरण छूकर चुपचाप बगल में बैठ गया—खाली कुर्सी पर।

कुछ देर कोई कुछ न बोला—और, न किसी का कोई मुख ही देख सका। केवल मेज पर एक लैंप टिमटिमा रहा था—और, एक छिपकिली घात में बैठी थी—उड़ते पतंग पर दृष्टि गड़ाए।

कमरे का सूनापन भारी होता चला और साँस अकसकाने लग गई। ऐसे

ही समय एक कुण्ठित ध्वनि सुनाई पड़ी :

'कैसी बर्बादी कर दी तुमने हमारे घर की !···विश्वास का यही बदला मिला हम लोगों को ?'

'तरुण' कुछ देर सोचता रह गया—क्या जवाब दे; फिर बिखरे विचारों को समेट कर बोला :

'जो होना था, वह तो सामने है। आगे अब आपकी क्या इच्छा है—मैं तो यही सुनने आया हूँ।'

जवाब में सवाल का समावेश करके 'तरुण' ने जैसे उस वयोवृद्ध को और बूढ़ा बना दिया हो। हताश होते उन्होंने कहा :

'कोई तरस नहीं आता तुमको हम पर—ऐसे निष्ठुर हो गए तुम !'

'यह सब तो आप उसी से पूछते, तो ज्यादा अच्छा होता। मैंने तो केवल उसका आग्रह माना है।'

वयोवृद्ध ने कातर-कण्ठ से कहा :

'वह तो नादान थी—अगर उसने कोई नादानी की, सज्ञान होकर तुम तो उसे सम्हालते...तुम्हीं कहो—जिसे तुमने 'बहन' कहा, जिसे पढ़ाया-लिखाया, जिसकी सेवा-शुश्रूषा की—और, जिसके माँ-बाप को 'माता-पिता' कहकर सम्बोधित किया—क्या उसके साथ ऐसा सम्बन्ध जोड़ते तुम्हारी आत्मा नहीं काँपी ?'

'काँपी जरूर, मगर मैं लाचार था—उसके आग्रह के सामने !'

बूढ़ा जैसे अपने-आप में धँसकर असूझ अन्धकार में खो गया हो। थोड़ी देर नीरव रहकर वह फिर बोला :

'फिर मुझसे क्यों न कहा ?'

'इसका भार उसने अपने ऊपर लिया था; क्योंकि, मेरे कहने से आप मुझे ही दोषी समझते ! उसने यह भी कहा—हमारे समाज में जब सहोदर भाई-बहन की सन्तान आपस में गँठ-बन्धन करती हैं, जब बहन का अपना भाई ही अपनी भानजी को पत्नी बना लेता है, तब दूर के शौकिया 'भाई-बहन' के बीच शादी होने में कौन-सी आपत्ति होगी ?....'पिता-माता' जो पहले प्यार के सम्बोधन थे—उन पर कानूनी मुहर भी लग जाएगी...'

वयोवृद्ध कुछ क्षुब्ध हो उठे और उन्होंने अब की अपना क्षोभ नहीं छिपाया :

'क्या तुम अपने को उसके योग्य समझते हो ?'

युवक पहले असमंजस में पड़ गया, लेकिन फिर सम्हलकर बोला :

'योग्य-अयोग्य का प्रश्न तो माँ-बाप के सामने होता है—जिन में प्रेम का धुँआ नहीं उठता है। लेकिन प्रेम तो पानी पीकर ही जात-पाँत पूछता है। सच पूछिए—तो मैं अपने को 'अयोग्य' ही मानता आया था, पर जब उसको मेरी 'अयोग्यता' में ही 'योग्यता' दिख गई, तब मैं क्या करता ?'

'लेकिन वह तो अब तुमसे घृणा करती है—'तपोधन' से भी उसने यही कहा था।'

'इन बातों पर मैं विश्वास नहीं करता—और, न वही करती है। झूठ बोलने का पछतावा है उसे।'

'तुम उसे प्यार करते हो न ?'

'अवश्य—लेकिन ज्यादा ठीक होगा यह—कि वह मुझे प्यार करती है सब से अधिक।'

'तुमने उस बेचारी पर जादू डाल दिया है !...अच्छा, एक बात कहो—तुम उसकी भलाई तो चाहते हो ?'

'निस्सन्देह।'

'तो सुनो—मैं उसकी शादी एक सुयोग्य और संपन्न डाक्टर से कर देना चाहता हूँ। तुम अगर सच्चे दिल से उसे प्यार करते हो, तो उसके मार्ग से हट जाओ। प्रेम की परीक्षा त्याग में ही होती है। तुम उसे सुखी नहीं बना सकते हो अपनी इस फटेहाली में—उसका जीवन कण्टकमय हो जाएगा; और, अन्त में वह तुमको कोसती रह जाएगी। इस लिए उसको सुखी करने की भावना से तुम यह महान् त्याग करो—मैं तुमसे यही भीख माँगने आया हूँ।'

कहकर सजल-नयन वयोवृद्ध ने उसे यों छाती से लगा लिया—जैसे कुछ वर्ष पूर्व कड्लोर जेल में उसे देखकर वह प्रेम-विह्वल हो उठे थे।

•

वयोवृद्ध सचमुच अविरल अश्रु बहा रहे थे। युवक भी पिघल पड़ा था।

बूढ़े की बातें उसे जोर से झकझोरने लग गई थीं और मन में ऊँची-ऊँची उमंग-तरंगें उठने लग गई थीं—जरूर वह त्याग करेगा रमा को सुखी बनाने के लिए; लेकिन···

'क्या वह डाक्टर से शादी करने को तैयार है ?'

'इसकी चिन्ता तुम छोड़ दो—केवल अपने को दूर हटा ले जाओ उसके जीवन-पथ से।'

हठात् युवक जैसे गड्ढे में गिर पड़ा ··

'यह तो उसके साथ विश्वास-घात करना होगा। जिसके लिए मैंने आपको धोखा दिया—इतने दिनों तक होठ सिए रहा, जिसके लिए परम-पूज्य 'तपोधन' से नाता तोड़ा, जिसके लिए अपने-पराए सब से मुँह मोड़ा—उसको अब धोखा कैसे दूँ—जो तन से, मन से, प्राण से मेरे तन-मन में समा चुकी है ? ·· हाँ, अगर वह मेरे सामने यह कह दे, तो मैं तुरत अदृश्य हो सकता हूँ। चलिए—मैं पूछता हूँ उससे···'

'नहीं, तुम्हारे सामने उसका मुँह नहीं खुलेगा—तुम दयाकर उसके पथ से हट जाओ।'

युवक भारी उलझन में पड़ गया। सचमुच सुख में पली वह लड़की तो दु:ख का नाम नहीं जानती है। अभी जोश में कहती है, परन्तु पीछे अवश्य कोसेगी—जैसे सीता ने राम से पूछ दिया था—अयोध्या से बाहर वन-पथ पर पाँव रखते ही :

'चलनो अब केतिक ?—
पर्ण-कुटी करि हौ कित ह्वै ?'

डाक्टर के पास वह सुख से रहेगी, इसमें कोई शक तो था नहीं। महल, मोटर, मान, मनोरंजन—सब उसे अफरात मिलेंगे।···हाँ, आत्मा को थोड़ा कष्ट होगा पहले, बाद में सब कुछ भूल जाएगी। सदा से ऐसा ही होता आया है, आगे भी ऐसा ही चलता रहेगा। प्यारे-से-प्यारे पति-पत्नी भी परिस्थिति से समझौता करके दूसरी दिशा में बह जाते हैं। फिर जिसे वह प्राणाधिक प्यारी समझता है, उसके सुख-सुहाग के लिए वह अदृश्य क्यों न हो जाए—जब उसका

शुभैषी बाप यों गिड़गिड़ा रहा है ? ··उसकी तो कोई हस्ती है नहीं—तिनके की तरह उड़ता आया था, उसी तरह उड़ता कहीं जाकर विलीन हो जाएगा। लेकिन जिसके लिए इतने लोग व्याकुल हैं, इतनी पद-प्रतिष्ठा है, इतने प्रलोभन हैं—उसे सुख से क्यों न जीने दिया जाए ?···

कभी त्याग का जोश, तो कभी प्रेम की कातरता—युवक दो पाटों में खूब पिसता रहा कुछ क्षण। फिर जैसे कोई अन्धकार में आँखें फाड़कर देखने का प्रयत्न करे—उसने भी वैसा ही किया :

'आपका कहना बहुत कुछ ठीक जँचता है—उसके सुख के लिए त्याग करने में मुझे बड़ा आत्म-गौरव प्राप्त होगा। मगर उसे सुख होगा इस त्याग से—इसी में सन्देह पैदा हो जाता है।...असल बात तो यह है—कि आप से उसे मैं ज्यादा जानता-पहचानता हूँ !—फिर 'आँखों देखा झूठा जान और बड़ों का कहना सच मान'—इस कहावत को मैं चरितार्थ क्यों करूँ, ऐसा मूढ़ क्यों बनूँ ?...गुनाह बेलज्जत क्यों हो जाए ? अगर उसके त्याग से वह आजीवन तपती ही रह गई, तो फिर यह त्याग किस काम का ?...इस लिए एक बार आप मुझे उसके पास जाने दीजिए, जिससे मैं उसके अन्तर का मर्म समझ सकूँ—और, सच्चे शुभैषी की तरह समझा भी सकूँ। जैसे आपने मेरे ऊपर इतना विश्वास किया, कुछ और कीजिए। इतना तो निश्चय रखिए ही—कि आप से अधिक मैं रखूँगा ख्याल उसके सुख-दुःख का। केवल एक बार मुझे उससे मिलने दीजिए—मेरी यही प्रार्थना है आप से।'

वयोवृद्ध ने अपना पलड़ा ऊपर उठते देखा, तो वह घबरा उठे। किसी भी कीमत पर उसे अब वह उसके सामने जाने देना नहीं चाहते थे। जाने कैसा एक वहम उनमें समा गया था—कि यह आदमी जादू जानता है; और, इसको देखते ही उस पर मंत्र चल जाएगा।

कौन समझाता उस युग-कटे मूढ़ को—कि यह जादू उस प्रेम का है, जिसका शिकार सभी युवक-युवती होते हैं एक बार—जब उनमें पंख उड़ाकर यौवन नाच उठता है।

दोनों में प्रेम की जो गहराई थी, उस होशियार से छिपी न थी। फिर भी सुख-संपत्ति और पद-प्रतिष्ठा का वह इतना कायल था—कि उस गहराई से

आँखें चुराने में ही उसका कल्याण समझता था। इसके जाने से तो मामला ही बिगड़ जाएगा—यह सोचकर वह बोला :

'तपोधन ने तुम्हारा वहाँ जाना ठीक नहीं बताया है...'

'तपोधन' बेचारे उसे क्या जानते हैं ?'

बूढ़ा खीझकर बोला :

'न माँ-बाप जानते हैं, न 'तपोधन' जानते है—केवल तुम जानते हो, तो फिर उसके कहने पर भी तुम इंगलैंड क्यों न गए ?'

इस जबंदस्त ललकार ने युवक के पलड़े को ऊँचा कर दिया। कुछ झेंपता हुआ वह बोला :

'क्या आप इसे पसंद करेंगे ?'

वयोवृद्ध चुप हो रहे। 'हाँ' कहने से सारी जिम्मेवारी उठाने का भय था, जिसके लिए वह कतई तैयार न थे—और, 'ना' तो कहा ही नहीं जा सकता था। दुबिधा इतनी बढ़ी—कि बहुत देर तक कुछ भी नहीं सूझा—क्या जवाब दिए जाए।

उनको यों विवश देखकर युवक फिर बोला :

'क्या आपके 'तपोधन' ही इसे पसंद करेंगे ?—मैं लिखकर पूछता हूँ उनसे।'

बाप पर पहाड़ ही टूट पड़ा—यह दूसरी बला कहाँ से आ पड़ी ! अस्त-व्यस्त होकर उन्होंने कहा :

'नहीं, नहीं—अब तुम उन्हें न लिखो; नहीं तो भारी फजीहत हो जाएगी सब की। केवल तुम उनका आदेश मान लो—और, हम लोगों को अपनी अमंगल-कामना से मुक्त कर दो—यह बूढ़ा बाप हाथ जोड़कर यह भीख माँग रहा है तुम से।...तुम्हारे कारण हम तो मिट्टी में ही मिल गए, वह अधमरी हो गई—और, 'तपोधन' के तेज पर भी आँच आ गई !...सचमुच एक अज्ञात-कुल...'

कहते-कहते वयोवृद्ध अचानक चुप हो गए—जैसे जीभ दाँतों तले आ गई हो। जो न बोलना चाहते थे, वही मुँह से निकल गया। वहीं यह उद्दंड हुआ—और, पहुँच गया उसके पास, तब तो रही-सही मिट्टी भी निकल जाएगी और कोई कहीं मुँह दिखाने लायक नहीं रह जाएगा। कौन रोक सकेगा इस दुर्दम

को ? वह तो भीगी बिल्ली ही बन जाएगी।...पुलिस कांस्टेबुल को बुलाना और खराब होगा। और—जब वह इसके विरुद्ध मुंह नहीं खोल सकती, तब कोर्ट-कचहरी क्या कर सकती है ?...इस साँप को तो किसी तरह पिटारी में ही बन्द कर देना है...

यों वह उधेड़-बुन कर ही रहे थे—कि मद्रास जाने वाली एक्सप्रेस आई और कुछ क्षण के बाद दो व्यक्ति, एक स्त्री और दूसरा चोगाधारी पुरुष, 'वेटिंग-रूम' में आकर खड़े हो गए। लैंप के झिल-मिल प्रकाश में पहचानना कुछ कठिन था। फिर भी सूरत पहचान में आ गई और लाचारी प्रणाम-पाती भी करनी पड़ी।

अचरज का वारा-पार नहीं था। सब के मुँह पर हवाइयाँ उड़ रही थीं। ठहरना दूभर था, निकल भागना उससे भी कठिन। स्त्री अकेली न थी—उसकी गोद में दो-तीन मास का एक शिशु भी दीख रहा था। युवक को यद्यपि पत्र मिल गया था, पर आज ही पहुँचने की बात उसमें न थी।

वयोवृद्ध आखिर उठे—और, युवक को अपने साथ आने का संकेत करके 'वेटिंगरूम' से निकल गए। युवक ने जाते-जाते चोगाधारी से कहा :

'अभी आया गाड़ी पर चढ़ाकर—आप जरा ठहरिए।'

—::०::—

अन्तः-सलिला

बहती धारा के आगे जब कोई भारी रुकावट खड़ी हो जाती है, तब कुछ काल के लिए बहाव रुक-सा जाता है—और, धारा के अन्दर दो गतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

धारा रुकी है, परन्तु उद्गम से जल आ ही रहा है; तब वह रोक-थाम को लाँघना चाहेगा—या अगल-बगल से निकल जाएगा।

मनुष्य के जीवन की धारा भी इसी तरह अपनी गति-विधि बदलती चलती है। जीवन संघर्ष-प्रधान होता ही है। और सहज गति में अवांछित अवरोध के आते ही वह संघर्ष-संकुल हो उठता है।

अवरोध भी दो प्रकार के होते हैं—एक पुष्टि-कारक, और दूसरा दुर्बल बनाने वाला। संयम-नियम प्रथम श्रेणी के अवरोध हैं अवश्य, किन्तु जब वे अन्तर्विरोध में पड़ जाते हैं, तब आदमी या तो उच्छृंखल हो जाता है, अथवा पिसकर नाम-शेष बन जाता है।

आदेश-निदेश का भी यही हाल होता है

बहुत कम बच्चा आज्ञाकारी या सुशील हो पाता है—अधिकतर बच्चे तो दुर्विनीत, दुष्ट या दुर्दमनीय ही देखे जाते हैं। उनके माँ-बाप या तो कोई रोक-थाम करते ही नहीं, या करते हैं, तो उसकी अति ही कर देते हैं।

साधु-सन्त संयम-नियम के व्रती होते हैं, लेकिन उनका वह संयम-नियम जब जीवन के सहज प्रवाह को जकड़ देता है, तब कुछ लोग डंड-कमंडल छोड़कर भाग खड़े होते हैं, तो कुछ जिन्दा ही मुर्दा बन जाते हैं।

तीन दिन से तरुण के सामने 'अण्णा' यही रहस्य खोल रहा था अपने जीवन का। 'तपोधन' के शिष्य होने के बाद कुछ दिन उसने कड़ाई के साथ तृष्णा की तरंगों को रोका था। किन्तु वह जन्म-जात क्रान्तिकारी था—और,

उसका जीवन सहज विस्फोट-प्रधान था। सेवा-कार्य की तन्मयता, अध्ययन-मनन की चिन्तन-शीलता और 'तपोधन' के सत्संग ने उसके विस्फोट को कुछ समय तक खूब संयत रखा—और, वह उनका प्रिय-पात्र बन गया।

कर्म-कुशल वह था ही। लेकिन जब आश्रम से दूर जाकर स्वतंत्र रूप से उसने कार्य सम्हाला, 'तपोधन' के नाम पर जब समाज में स्नेह-संमान के साथ-साथ पैसे भी उसके पास अबाध गति से आने लगे, तब कार्य, सुरुचि और व्यवस्था के नाम पर उसकी तृष्णा ने भी अपना पंख फैलाना शुरू कर दिया।

कुछ सहकर्मी भी ऐसे चतुर-चालाक मिल गए—जो उसकी अन्तर्रुचि को पहचान कर आग में घी डालने लग गए—और, देखते-देखते वह मोटर-महल से घिर गया।

मानव-जीवन अनुभूति-प्रधान होता है—और, अनुभूति जब अपनी अभिव्यक्ति में प्रबल, प्रचण्ड और ज्वलन्त बन जाती है, तब जाग्रत-जीवन-प्रवाह अडिग अवरोधों से भी टक्कर लेने लग जाता है।

'तपोधन' ने जातीय जीवन को पहचाना और भीतर-बाहर से उसे ऐसा झकझोरा—कि सर्वत्र एक आँधी-सी उठ खड़ी हुई—और, जो जहाँ सुलग रहा था भूसी की आग की तरह—वहीं भभक पड़ा।

जातीय जीवन अवरोधों से घिरा हुआ था, किन्तु 'तपोधन' के संकेत से सब ओर जोश की चिनगारियाँ उड़ रही थीं। सारा राष्ट्र ज्वलन्त हो उठा था—नरम-गरम, नौकर-मालिक, पढ़-अनपढ़—सब उस ज्वाला से चमत्कृत हो उठे थे—और, सब कोने-कोने से उसकी जय मनाने लग गए थे।

ऐसे अद्भुत समय में—जब उद्गम में ही उमड़ाव हो रहा हो, साथ ही इर्द-गिर्द से नदी-नाले भी उमड़े आ रहे हों—और, ऊपर से बादलों का मुसलाधार बरसना थमता न हो; तब भला वह प्रवाह प्रमत्त क्यों न हो जाता!

'तपोधन' के नेतृत्व में आसेतु-हिमालय एक ऐसा ही उन्मद यौवन फूट पड़ा था—और, अवरोधों से भिड़ने के लिए सर्वत्र प्रचण्ड ललकार सुनाई पड़ने लग गई थी :

'चाँदी-सोने के टुकड़ों पर अन्तस्तल का सौदा,
हाथ-पाँव जकड़े जाने को आमिष-पूर्ण मसौदा।
टुकड़ों पर जीवन की श्वासें—कैसी सुन्दर दर है!
हूँ उन्मत्त, तलाश रहा हूँ—कहाँ बधिक का घर है ?"

किन्तु 'तपोधन' सव्यसाची थे—दोनों हाथों से बाण चलाते थे। उनका बाण 'लक्ष्य' को खोजता-फिरता था। दूसरों को वह 'लक्ष्य' केवल बाहर दीखता था, पर 'तपोधन' पहले अपने अन्दर के दुश्मनों को ही शिकस्त देने के पक्ष में थे।

यही 'पक्ष' उनके अधिकांश महत्त्वाकांक्षी अनुयायियों को अन्दर से खटक जाता था; क्योंकि, उनकी दृष्टि बाहर-ही-बाहर देखती आई थी। फिर भी वे 'तपोधन' से चिपके रहना चाहते थे; क्योंकि, युग 'तपोधन' का जयघोष कर रहा था और—वे अगर साथ-साथ गला न फाड़ते, तो युग-धारा जाने उन्हें कहाँ फेंक देती।

'अण्णा' का अन्तर यद्यपि वैसा बहिर्मुखी न था, यद्यपि चिन्तन-मनन की आकांक्षा भी उसमें काफी झलकती थी, फिर भी वासना का वेग उसमें बलवान् था। वासना कामना का दूसरा नाम है सही, परन्तु प्रयोग में वह तृष्णा का ही बोध कराती है।

'अण्णा' की तृष्णा, कामना, वासना अभीतक अतृप्त थी। इसके कई कारण थे। पत्नी के साथ ही वह 'तपोधन' का शिष्य हुआ था, इसलिए संयम-नियम की झोली गले में लटक गई थी। कुछ दिन इसी तरह चला। पीछे व्यक्तिगत दोषों का भी कुछ पता चला, पर दोनों ने दोनों को बर्दाश्त किया बड़ी समझदारी के साथ।

अन्तर की चाह न होने पर भी व्यावहारिक दृष्टि से कभी-कभी स्वीकृत व्रत निभाने ही पड़ते हैं। यों 'अण्णा' के अन्तर पर बाहरी दबाब बढ़ता गया, परन्तु बाहर से भोग-लालसा पर लगाम भी चढ़ी रही। यों 'तपोधन' भी खुश नजर आते थे और समाज भी सन्तुष्ट था अण्णा' के कार्य कलाप से।

दरअसल अभाव में आदमी के संयम-नियम की परीक्षा नहीं होती है—उसकी अग्नि-परीक्षा तो तब होती है, जब वह इफरात में आ जाता है। 'अण्णा' भी जब चारों ओर से भव-विभव के साथ घिरने लगा—कभी जान में तो कभी अनजान में ही जब वह अवरोधों से टकराने लगा, तब दमित-शमित वासना साँप

की तरह सगबगाने लगी। और, एक दिन यह 'अंबुजा' आ बैठी उसकी बगल में —कुछ दिन शिष्या की तरह, कुछ दिन किरानी की तरह और अन्त में इस शिशु की माँ बनकर।

'अण्णा' ने निश्छल होकर कहा—कि यह 'अंबुजा' भी एक ऐसे अभागे की पत्नी थी—जो इसके यौवन का सौदा करके अपना अमल पूरा करना चाहता था। लेकिन 'अंबुजा' यों बर्बाद होने को तैयार न थी। उसमें कुछ बुद्धि थी, कुछ कुशलता थी, और कुछ महत्त्वाकांक्षा भी उमड़-घुमड़ रही थी।

जैसे नदी के प्रखर प्रवाह में बहते हुए दो तिनके कभी-कभी परस्पर मिल जाते हैं, 'अण्णा' और 'अंबुजा' का जीवन-प्रवाह भी अन्तः-सलिला की भाँति अदृश्य रूप में मिला—और, यह शिशु उनकी गोद में उछल आया।

अगर इन दोनों में भोग ही प्रधान होता, तो आज ये दो-से-तीन न दीखते लोक-लोचन में—यह शिशु गर्भ में ही सदा के लिए सोया रह जाता—जैसा आए दिन होता रहता है भले-मानसों के घर में।

'अंबुजा' तो माँ बनने को तैयार न थी, परन्तु 'अण्णा' में वह कमजोरी न थी। वह क्रान्ति का पुजारी था—और, जब एक बार उसका पाँव फिसल गया, तो दूसरी गलती करने को वह तैयार न हो सका।

यही कारण था—कि यह कुटिया इन अतिथियों के आगमन से कुछ कौतूहल-पूर्ण हो रही थी। 'अण्णा' ने बताया—कि 'तपोधन' ने उसे कठिन सजा दी है—सब की नजरों में तो गिराया ही, साथ ही दोनों को दूर-दूर भी रखना चाहा—पाप के प्रायश्चित्त स्वरूप; परन्तु क्रान्तिकारी व्यक्तित्व को यह पलायन मंजूर न हुआ। यद्यपि उसने 'तपोधन' के सामने कुछ न कहा, फिर भी अपना निश्चय दृढ़ रखा—जब जान-बूझकर वह इस आग में कूदा था, तब अब जलने से डरना कैसा! दुनिया ने दोनों को पापी माना, फिर आत्मा भी उन्हें क्यों कोसे? इसी लिए वह निकल पड़ा था यों भटकने के लिए।

'तरुण' बहुत प्रभावित हो उठा 'अण्णा' की बातों से। यद्यपि सामाजिक दृष्टि से कई दिक्कतें थीं उनके सामने—'अंबुजा' का पति कोर्ट में घसीटेगा इन्हें, उधर 'अण्णा' की पत्नी भी घर का द्वार बन्द कर देगी, इधर जो सन्तान होगी, उनका सामाजिक भविष्य क्या होगा?…

जो भी हो, भविष्य कैसा भी अन्धकारमय क्यों न हो, पर मनुष्यता की माँग यही थी—कि जब दोनों समझ-बूझकर तन-मन से एक हो गए हैं, तो अन्तिम क्षण तक एक बने रह जाएँ।

'अण्णा' को उस अचल चट्टान पर खड़े देखकर 'तरुण' का गर्व सम्हाल में नहीं आ रहा था। वह अपना दुःख-सुख भूल गया था और पूछने पर भी कुछ कहना नहीं चाहता था। सब लोग उस अनजान शिशु के सरल सौन्दर्य और उसके भोलेपन पर इतने मुग्ध थे कि तीन दिन कैसे बीत गए, कोई जान न सका। चौथे दिन 'तरुण' के सादे आग्रह को ठुकरा कर वे अद्भुत अतिथि मद्रास की गाड़ी पर चढ़ गए!

गाड़ी जब खुली, तब शिशु को प्यार का चुम्बन और 'अण्णा' को आदर का वन्दन देकर 'तरुण' गाड़ी को गर्व, हर्ष, विषाद और विस्मय से देखता रह गया—अरे, 'अंबुजा' तो जी लेगी चाहे जिस तरह, लेकिन इस शिशु का क्या होगा, जब यह आँखें खोलेगा और समाज इसके माँ-बाप के नाम पर जब इसकी आँखों में धूल झोंकेगा!...

'खुदा जब देता है, तब छप्पर फाड़कर देता है'—'तरुण' के 'आत्मीय' के सम्बन्ध में वह कहावत चरितार्थ हुई। स्कूल-कालेज की पढ़ाई न होने पर भी उसमें व्यावहारिक-निपुणता इतने ऊँचे दर्जे की थी—कि यदि वह मिट्टी भी छू ले, तो सोना बन जाए। उधर उसकी संगिनी 'बुद्धिमती' अपने नाम को सार्थक कर रही थी—शिष्ट और मधुर, मुख-मंडल भोला और रूप साधारण, नयन चंचल और रहन-सहन एकदम सादा।

प्रायः सादगी मन की उपज कम होती है, अभाव की माँग ही उसमें अधिक तीव्र देखी जाती है। अन्तर अक्सर लोभ-लालसा से आन्दोलित और बाह्य त्याग-तपस्या के गान से मुखरित; अभाव को समृद्धि में कैसे बदला जाए—इसकी योजना से बुद्धिमानों का मस्तिष्क परिपूर्ण रहता है। जीने की कला में वे लोग ही पारंगत होते आए हैं।

जबतक 'तरुण' के साथ थे, उन दोनों की प्रतिभा खुल कर खेल नहीं पाती थी। अलग होते ही वह एकाएक चमक उठी। 'आत्मीय' कुछ अधिक

गंभीर था 'बुद्धिमती' की अपेक्षा। बोलता कम था, पर सोचता था अधिक। 'बुद्धिमती' सोचती कम थी, पर सफल-मनोरथ होने में सब से आगे रहती थी। कोई कैसा भी होशियार क्यों न हो, 'बुद्धिमती' के सम्पर्क में आते ही वह उसका लोहा मान लेता था। सब से बड़ा जादू था उसकी मीठी बोली और अपनत्व के प्रदर्शन में—जिसके जाल से शायद ही कोई निकल सकता था।

भाग्य ने साथ दिया और 'आत्मीय' को बंबैया एक धन्ना सेठ के हाल-मुकाम में नव युवती सेठानी को पढ़ाने का काम मिल गया। सेठानी नई-नवेली थी, लेकिन रूप-रंग में उस परिवार से बिलकुल अनमिल थी—जैसे कहीं से उड़ा लाई गई हो पैसे के बल पर।

सेठ सज्जन था, पर झुर्रियों से भरा था। बंबई वाले घर में भारी-भरकम शरीर वाली निःसन्तान धर्मात्मा सुहागिन मौजूद थी। फिर भी उस अपार धन को भोगने वाला कोई नहीं था—जिसकी चिन्ता ने राजी-खुशी इस अनूठी युवती को फँसाया तो सही, पर सुहागिन ने शर्त यह लगा दी—कि सेठ इसे कहीं दूसरी जगह रखे, केवल इससे जो बच्चा हो, वही इस पवित्र घर में लाया जाए।

सेठ ने उस नई चिड़िया का नाम रखा 'आरती'—और, उसे भारत के विभिन्न शहरों में घुमाया। जल-वायु की दृष्टि से मद्रास 'आरती' को पसंद पड़ा और वहीं एक विशाल भवन लेकर वह रहने लग गई। सेठ भी कभी-कभी आकर रह जाता था। अन्यथा वह युवती प्रायः नौकर-चाकर की देख-रेख में ही रहा करती थी।

'आरती' की पोशाक तो भारतीय थी, पर रूप-रंग में एक विचित्र विदेशी मिश्रण दीख पड़ता था। किन्तु उसकी आँखों की खिड़की से एक ऐसी सरल स्व-देशी आत्मा की झलक मिलती थी— जो देखने वालों पर एक स्नेह और संमान का आवरण डाल देती थी।

'आरती' अपने कमरे से कम निकलती थी और बोलती तो नौकर-चाकर से भी कम थी। हमेशा कुछ-न-कुछ पढ़ते रहना ही उसका स्वभाव था। जगत् की ओर अनजान और कुछ सभीत नजरों से ही वह देखती आई थी।

गहने-कपड़ों से उसके बक्स भरे पड़े थे, परन्तु उसकी रुचि उनकी ओर

कभी लपकती नहीं थी। सादगी अन्तरात्मा की माँग थी। भोजन भी वह सादा ही पसंद करती थी।

गाना-बजाना जानती थी। संभवतः पहले कभी कुछ अभ्यास भी होगा, पर शौक नहीं था। शौक था टहलने का—देश-दर्शन का—मगर उस सेठ को न फुर्सत थी, न 'आरती' का मन ही रमता था उसके साहचर्य में। इसलिए वह अधिकांश समय अपने अध्ययन-कक्ष में भी बिताती थी।

हाँ, खेल-कूद में उसकी कुछ रुचि दीख पड़ती थी। दासी के साथ भी टेनिस या बैडमिंटन वह खेल लेती थी। नाटक कभी-कभी देख लेना उसको पसंद था, परन्तु सिनेमा से अरुचि थी। परन्तु सेठ जबर्दस्ती उसे खींच ले जाता था यदा-कदा।

विचार उसके अभी बन ही रहे थे—कुछ अस्पस्ट ही था यह जीवन और जगत्। मन कभी कविता की ओर भागता तो कभी कहानी लिखने का प्रयास करता था। कभी दर्शन की बातें अच्छी लगतीं, तो कभी देश-सेवा की भावना जोर मारने लगती। सेठ ने अँगरेजी पढ़ाने की विशेष व्यवस्था कर रखी थी।

ऐसे ही समय एक अंगरेजी पत्रिका में उसने एक लेख पढ़ा किसी विदेशी लेखक का—जिसने तुलसी को एशिया का सबसे बड़ा कवि घोषित किया था। उसके मन में तुलसी-साहित्य से परिचय पाने की उत्कंठा बढ़ी और एक ट्यूटर की खोज शुरू हुई।

ऐसे ही समय 'आत्मीय' पर लोगों की दृष्टि पड़ी थी।

'आत्मीय' तत्कालीन राष्ट्रीय पोशाक में रहता था—सफेद खादी की धोती, सफेद कुरता और सफेद टोपी। इसी वेश-भूषा में वह 'आरती' के सामने उपस्थित हुआ था—और, कुछ क्षण स्तंभित-सा रह गया था उस अभूत-पूर्व मुखड़े को देखकर।

मुख-मण्डल में दीप्ति थी, कान्ति थी, कोमलता थी और थी कुछ विमलता भी। सौन्दर्य में आकर्षण था, पर नयनों में लपक-झपक नहीं थी। एक भोला ममत्व हँसता-खेलता नजर आता था—जो छल-छन्दों से एकदम अनजान जान पड़ता था। पुतलियाँ उठती थीं, इधर-उधर घूमती भी थीं, पर उनमें चंचलता

या चातुरी का अभाव था। केवल उनका भूरा रंग ही ऐसा था—जो कुछ विकर्षण ला देता था।

'आत्मीय' ने भी 'आरती' को गौर से देखा—और, उसका आत्म-विश्वास खिसकता जान पड़ा। आँखें उठाने का साहस न हुआ—एक झाँकी-झलक लेकर अपने-आप में गोते खाने लगा। इतने में सुन पड़ा :

'आइए—बैठिए...'

कहकर 'आरती' ने कुर्सी से उठकर उसका स्वागत किया और 'आत्मीय' सामने की मेज के पास ही कुर्सी पर बैठ गया।

बिना दूसरी किसी बात की चर्चा किए ही 'आरती' ने किताब खोल दी और 'मानस' का एक दोहा पढ़ने लग गई :

"ग्रह भेषज जल पवन पट पाइ कुजोग सुजोग।
होहिं कुबस्तु सुबस्तु जग लखहिं सुलच्छन लोग॥"

शिक्षक का हृदय धड़क उठा—एकाएक परीक्षा ही लेने जा रही है क्या...

'इसका भावार्थ क्या आप अँगरेजी में समझा दीजिएगा मुझे?'

यह दूसरा धक्का था उस पर—एक तो वह खुद उस पद को ठीक-ठीक आयत्त नहीं कर सका था, दूसरे अँगरेजी में समझाना और कठिन था। लेकिन यही भाग्य की बाजी थी—जरा भी हिचकिचाया कि स्वर्ग का दरवाजा जो सहसा खुल पड़ा था उसके सामने, सदा के लिए बन्द हुआ ही समझो।

साँस लेकर शिक्षक ने अपने को समेटा, अपनी शक्ति को परखा, अपने वाक्य-कौशल को पुकारा और बड़ी शालीनता से बोल उठा :

'बहन, आज तो मैं आपसे परिचय ही प्राप्त करने आया था। बड़ी खुशी है कि आप 'मानस' में गोता लगा रही हैं। मैं अवश्य आप की पूरी मदद करूँगा इस दिशा में।'

'बहन' का सम्बोधन 'आरती' के कानों में अपनत्व का ऐसा अमृत डाल गया—कि सब कुछ भूलकर वह देरतक मन-ही-मन उसका अनूठा स्वाद लेती रही।

फिर धीरे-धीरे आनत मुखड़ा उठाकर संकोचशील आँखों से शिक्षक को देखा।

शिक्षक के लिए यह तीसरी परीक्षा थी—और, उसमें वह पूरे अंकों से उत्तीर्ण हुआ। 'आरती' की आँखों ने उससे कहा—नहीं, इसमें कोई धोखा नहीं है।

बस, उस दिन से 'आरती' का सूनापन दूर हो गया—और, शिक्षक को पूरे समय का काम मिल गया।

अपनी परीक्षा की बात 'आत्मीय' ने पहले 'बुद्धिमती' से छिपाई—और, आने के पहले विद्यार्थी की तरह पूरी तैयारी करने लगा।

शिक्षक का सौजन्य, अपनापन, और अध्यापन ऐसा रुचिकर प्रतीत हुआ कि 'आरती' उसके साथ समरस होने लगी—और, यदा-कदा पत्नी को भी लाने का आग्रह वह करने लगी।

'बुद्धिमती' की कमजोरी वह जानता था और भाग्यदेवता को नाखुश करना उसे मंजूर न था। इसलिए वह कुछ दिन यों ही टालता रहा और निरपेक्ष होकर काम करता चला।

निरपेक्षता विश्वास की जननी होती है। दार्शनिक दृष्टि वाले इसी को 'अनासक्ति' नाम से भी पुकारते हैं। साधारण जनों के औदार्य में इसी को प्राय: ऐसा भी कहा-सुना जाता है—'नेकी कर और कुए में डाल !'

'आत्मीय' न नेकी कर रहा था, न कुए में ही डाल रहा था। वह तो नेक-नीयती से काम कर रहा था और अनुपात से अधिक उसका मूल्य भी बटोर रहा था। फिर भी अनजान में ही अपना मर्म-मधुर ममत्व जो उसे दे रहा था; उसका मूल्य केवल 'आरती' महसूस कर रही थी—दूसरा कोई नहीं। इसीलिए 'आरती' के हृदय में धीरे-धीरे कृतज्ञता का भाव बढ़ने लगा।

कृतज्ञता भाव तक ही सीमित नहीं रहती—वह विभाव और अनुभाव को भी बुलाती है। यों क्रम-क्रम 'बुद्धिमती' और 'आरती' के घर से उपहारों का आना-जाना भी शुरू हो गया—और, देखते-देखते 'बुद्धिमती' के कानों में रंग-बिरंगे कर्णफूल और लोलक डोलने लग गए। खादी के मोटे कपड़े भी उसके उतरे और सिल्क की मुलायम साड़ियाँ पहन कर जो गुदगुदाहट उसे महसूस होने लगी,

उसका वह सुख कौन समझता ?

पहले वह कुछ शंकालु अवश्य थी, पर इन वरदानों की बाढ़ में उसकी सारी ईर्ष्या तिनके की तरह जाने कहाँ बह गई।

भोग की भूख-पुरुषों की अपेक्षा शायद औरतों को ही अधिक सताती है; क्योंकि, 'आत्मीय' के बाह्यावरण में कोई परिवर्तन नजर नहीं आता था, और उधर 'बुद्धिमती' का बहिरन्तर पहचाना नहीं जाता था।

लेकिन 'आत्मीय' एकदम अक्षुण्ण हो, यह भी कहा नहीं जा सकता था। इसका रहस्य उन्हीं पर अधिक खुलता था—जो उसके निकटवर्ती थे या पूर्व-परिचित थे।

धीरे-धीरे अपने पूर्व-परिचतों से वह इतराने लगा, संयोग से भेंट हो जाने पर सहसा गंभीर हो जाता था और भाग-भाग की पड़ जाती थी। पत्राचार भी कम हो गया। ऊँचे वर्गों से सम्बन्ध जुड़ा और फटेहालों से किनाराकशी शुरू हो गई।

और कोई महसूस करे या न करे, पर 'तरुण' को इस परिवर्तन से अत्यधिक अचरज हुआ और कुछ क्लेश भी।

यह नहीं था—कि 'तरुण' 'आत्मीय' की समृद्धि में हिस्सा बँटाना चाहता हो। देना उसका स्वभाव था, लेने के समय संकोच से दब जाता था। उधर लेने के लिए हाथ फैला रहता था, और देने की बात कभी उठती ही न थी।

लेकिन 'तरुण' भाव का भूखा अवश्य था और 'आत्मीय' से यह आशा जरूर रखता था कि भाव-दान में वह कभी कंजूसी नहीं करेगा। परन्तु 'आरती' के साहचर्य के कारण वह कंजूसी जो उसमें आई, 'तरुण' को बेहद खलने लगी। सबसे खटकने वाली बात तो यह थी कि जहाँ 'तरुण' ने अपनी 'रमा' की कोई बात 'आत्मीय' से न छिपाई थी, वहाँ 'आत्मीय' ने 'आरती' की भनक भी 'तरुण' के कानों में न पड़ने दी। यह होशियारी शायद उसने अपनी पत्नी से ही सीखी थी।

सुखी होने का हक सबको प्राप्त है। अपने भाग्य या कौशल से जहाँ भी जो सुखी हो जाए, उससे कोई ईर्ष्या क्यों करे ?...ठीक था उसका वह तर्क, लेकिन असहायावस्था में, दुरवस्था में, कष्ट-काल में जिसने उस अनाथ का हाथ

आतुरता से पकड़ा था, उमड़कर छाती से लगाया था, अपना पेट काटकर भी प्यार से पाला था, नेत्रों की पुतली बनाकर जगत् में नचाया था—उसको यों भुला देना क्या उस तर्क से समर्थित होता था ?...लेकिन वह सुखी जीव अक्सर गाया करता था :

"जीवन यात्रा चले जाय छूटे—
काछे-काछे तार खेलार पुतुल
धूले कुटाय काँदे !"

'आरती' समझ रही थी कि 'बुद्धिमती' के सौभाग्य में वह हिस्सा बँटा रही है—उसके पति को उससे अधिक वही अपने पास रख रही है। सुखी होने का उसका हक भी अक्षुण्ण था। उसके पति उसे पैसा दे सकता था, और वह उससे आवश्यक सुख खरीद सकती थी।

'अध्ययन' के साथ जब 'आरती' को कुछ दूसरे सुख भी प्राप्त होने लगे, तब उसने जोर से अपने शिक्षक को पकड़ा। विचार यद्यपि उसके सात्विक थे, लेकिन आचार तो कुछ दूसरा ही रहा था उसके मातृ-कुल का—सभी तो विदेशी रक्त का मिश्रण उसकी धमनियों में समा सका था। उस रक्त की उकसाहट उसके अनजान मन को जब-न-तब चौंकाया भी करती थी। किन्तु उसकी माँ का संकल्प अद्भुत था—'मैं तो बिगड़ी ही, कोख की इस कली को क्यों बिगड़ने दूँ ?' उसी के संकल्प का फल था कि वह उस सेठ की संगिनी बन सकी।

लेकिन जैसे-जैसे जवानी के फूल मुसकुराने लगे उसके अंग में, रुधिर की गर्मी भी बढ़ने लगी नसों में। सेठ का सहवास उस गर्मी को बर्फ जरूर बना देता था, लेकिन उसी समय तक—जब तक वह उसके समीप रहता था। उसके दूर होते ही वह गर्मी फिर तेजी से उभर पड़ती थी—और, इधर-उधर नजर दौड़ाने लग जाती थी।

रुधिर के इसी अज्ञात भ्रमण में 'आत्मीय' से 'आरती' का साक्षात्कार हुआ था।

'आत्मीय' सुन्दर न था, परन्तु स्वस्थ, शालीन और हृष्ट-पुष्ट काफी था। उमर में शायद सम ही था। 'आरती' को पहचानने में देर न लगी कि इस

वाक्-चतुर के साथ उसका सूनापन बहुत-कुछ दूर हो सकता है। फिर जैसे भूँकते कुत्तों को चोर-चुहार भी कुछ टुकड़े फेंक देते हैं, तो वे दुम हिलाने लग जाते हैं—अपने याचकों को भी कुछ-कुछ उसी निगाह से 'आरती' देखती थी।

'बुद्धिमती' केवल मधुर-भाषिणी थी और रटी-रटाई कुछ बड़ी-बड़ी बातें भी बेधड़क बोल सकती थी। जिससे कुछ प्राप्ति की आशा हो उसके स्वागत-सत्कार में बड़ी निपुण देखी जाती थी। सुरुचि और सजावट का प्रदर्शन वह अवश्य करती थी, मगर उसका उद्गम उसके संस्कार में शायद न था।

संस्कारी नारियाँ भी सजावट करती हैं, परन्तु सजावट करते-करते अंगों को बिखेरती-समेटती कमरे से या आँगन से वे बाहर नहीं निकलतीं—लोगों की नजरों में इठलाती नहीं दीख पड़ती हैं। उनके अंग प्रदर्शन के लिए छटपटाते नहीं।

'बुद्धिमती' को उसके चतुर पति ने यह संस्कार-भेद न सुझाया हो, ऐसी बात नहीं थी—पर जन्म-जात संस्कार अपनी जगह पर जमा हुआ था; और, वही उसका रहस्य रह-रह कर खोल देता था।

इस दृष्टि से 'आरती' बहुत सत्कुलीन मालूम होती थी—उसमें प्रदर्शन के बदले अंग-गोपन का प्रयत्न ही अधिक परिलक्षित होता था।

'आरती' के साथ-साथ 'आत्मीय' का निजी अध्ययन भी खूब चलने लगा। विचारों में ऊँचा उठना, किसी से तर्क-वितर्क में मात न खाना—उसकी महत्त्वाकांक्षा का यह सब से बड़ा लक्ष्य था। और उसकी शिष्या विचारों में उससे आगे बढ़ी दीख रही थी। शिक्षक ने यह चुनौती सहर्ष स्वीकार की और घोर परिश्रम करके उसने उस होड़ में अपने को हमेशा दो अंगुल आगे ही रखा।

'आरती' प्रगति का यह वेग अनुभव करती और मन-ही-मन मुसकुरा उठती थी—अच्छी होड़ लगी है शिष्य-शिष्या में!

अध्ययन-अध्यापन में जैसी प्रगति थी, आदर-सत्कार में उससे कुछ कम प्रगति न दीखती थी। और, सत्कार कब स्नेह का रूप ले लेता है; और, स्नेह कब तन-मन को दूध-चीनी की तरह मिला देता है—यह तो विधाता भी नहीं बता सकता है, फिर आदमी की क्या हस्ती!

आचार से विचार बनता है या विचार से आचार संचालित होता है,

इसका निर्णय अब तक असंदिग्ध नहीं हो सका है। 'आरती' और 'आत्मीय' दोनों के विचार उन्नत हो रहे थे, दोनों धड़ल्ले से ऊँचे-ऊँचे दार्शनिक या मनो-विश्लेषण के धरातल पर पहुँच जाते थे। साथ ही दोनों कब और कैसे किस खाई-खन्दक में जा खिसकेंगे, इसकी शंका शायद 'बुद्धिमती' को थी, पर उसकी जबान बन्द थी।

कोई गुड़ खाए और गुलगुले से परहेज करे—यह तो संभव न था। इस लिए भी इधर दोनों निश्चिन्त थे।

सेठ को इससे कोई मतलब न था कि कौन आता है, कौन जाता है या कौन पढ़ाता है। जब वह आए, 'आरती' सेवा में हाजिर रहे और उसकी झुर्रियों पर थोड़ी देर ममता से हाथ फेर दे—इससे अधिक उसकी और कोई कामना थी नहीं। 'आरती' को प्यार से वह 'डार्लिंग' कहता था और 'आरती' भी जबर्दस्ती उसे 'डियर' कहकर रस्म-अदाई पूरी कर देती थी। परन्तु सेवा-सत्कार वह पूरी तल्लीनता से करती थी; क्योंकि, वह आँखें बन्द करके नोटों का पुलिन्दा जो उसके हाथों में रख देता था।

ईमानदारी 'आरती' की नसों में समाई थी। वास्तव में न वह किसी को ठगना चाहती थी, न खुद ठगाना चाहती थी। लेकिन सब से बड़ा ठग जो उसकी धमनियों में घुसकर बैठ गया था, जवानी के उस गरम खून को, उसकी कसमसाहट को वह कैसे समझाती। जान में या अनजान में कभी न कभी वह ठग उसका सर्वस्व अपहरण कर ले—और, हाथ मलती रह जाए वह बेचारी !

'आत्मीय' कभी यों नहीं पछता सका, उसका सौभाग्य ही माना जाएगा। क्योंकि वह अनासक्त जीवन की साधना कर रहा था और पत्नी की ओर से एकदम निश्चन्त था ही। जीवन में जो अनायास आ जाता है, उसे वह भला क्यों ठुकराने चला ! जो आता है, आए; जो जाता है, वह शौक से जाए। उसको घबराहट नहीं, कोई छटपटाहट नहीं—निश्चल और निश्चिन्त, पाषाण ही एकदम।

भला कौन योगी इसके सामने खड़ा हो सकता था, कौन दार्शनिक मुँह खोल सकता था, कौन महत्त्वाकांक्षी टिक सकता था ?

चला जा रहा था वह कारवाँ झूलता-झूमता आँधी-तूफान से बेखबर—क्योंकि, ऊपर निरभ्र आकाश चमक रहा था; और, नीचे पगतल में सुखद समतल पाँवों को बेतरह गुदगुदा रहा था !

संकेत-लिपि

अपनी कुटिया में बैठा 'तरुण' उस दिन विशेष उदास था। प्रकृति उससे भी अधिक उदास थी। खेतों में धान गभुआ गए थे, पर जड़ में पानी का पता नहीं था। दरारें फटने लगी थीं। बादल छाता था, पर बरसने का नाम नहीं लेता था। किसानों में हाय-तोबा मचा हुआ था। 'तरुण' की दृष्टि उन्हीं सूखे खेतों की ओर गड़ी थी, परन्तु उसका मन जाने क्यों 'अंबुजा' की गोद में उछलते और मचलते उस भोले शिशु की स्मृति में ही खोया हुआ था।

वह सोच रहा था—'अण्णा' पुरुष है, क्रान्तिकारी है, समाज के प्रति निर्मम ही रहता आया है—मजे में जी लेगा। लिखा-पढ़ा दिया ही है—'अंबुजा' भी कहीं कोई काम करके जी लेगी। लेकिन वह शिशु, जब सयाना होगा और स्कूल में पढ़ने जाएगा, तब बाप का नाम क्या बताएगा?...घर लौट कर जब माँ से पूछेगा, तब वह अभागिनी ही भला क्या जवाब देगी?...

अरे, जाति और गोत्र की रूढ़ियों में जकड़ा यह समाज निर्बन्ध मानव को भला जीने देगा? कुमारी कुन्ती के कर्ण ऐसे उस महावीर और अतुल दानी को उसने जीने दिया था?...फिर इस मासूम का क्या हाल होगा? और, तब 'अण्णा' तो कहीं किसी कोने में मुँह छिपा लेगा, पर बेचारी 'अंबुजा' अपने बाल-बच्चों को कैसे सम्हालेगी? कैसी असहायावस्था हो जाएगी उसकी, संसार कैसा सूना हो जाएगा उसके लिए, क्षोभ कितना अपार हो उठेगा उसका—पर किस पर? बेचारी माथा पीट कर रह जाएगी, अपने भाग्य को कोसेगी, अपनी करनी को कोसती फिरेगी। साथ ही कोसेगी अपने निर्दय समाज के उन सफेद-पोशों को—जो बगुला-भगत बने हुए गुप-चुप उछलती मछलियों को गटकते रहते हैं—और, फिर आँखें बन्द करके ध्यानस्थ हो जाते हैं!

'तरुण' की चिन्ता गहरी होती गई :

पढ़े-लिखे, ऊँचे विचार, सादा आचार, व्रत-नियम, संकल्प-साधना के

बीच यह दुर्बलता क्यों—जीवन की मामूली माँग से यह पलायन क्यों ? क्यों यह अपराध में शुमार—और, क्यों उसकी ऐसी कठोर सजा ?...और, फिर नारी ही क्यों यों दण्डिता हो सबके हाथों ? क्योंकि वह अबला है और उसकी आवाज उतनी ऊँची नहीं है—यही न ?...नहीं, यह समाज-व्यवस्था ही सड़ी-गली है। क्रोध इसी पर करना है, इसी को जड़-मूल से उखाड़ फेंकना है—जिससे मानवता शुद्ध रूप में प्रतिष्ठित हो सके।...तो क्या यह संभव है कि देश, धर्म, जाति, गोत्र और रंग की केंचुली उतार कर मानव कभी अपना प्रेम-परिवार स्थापित कर सकेगा ?...अड़चनें चाहे जितनी हों, समय चाहे जितना लगे, पीढ़ियाँ चाहे जितनी खतम हो जाएँ, लेकिन आखिर कहना तो पड़ेगा यही—'नान्यः पन्था विद्यते अयनाय'—दूसरा कोई रास्ता तो दीखता ही नहीं इसके सिवा !

'तपोधन' की साधना का यही चरम लक्ष्य था—मानवता की पूर्ण प्रतिष्ठा। लेकिन उन्होंने अपना कार्य-क्षेत्र इतना विस्तृत कर लिया था कि शक्ति केन्द्रित नहीं हो पाती थी—बिखर-बिखर जाती थी। और, ऐसे महत्त्वाकांक्षी जमा हो गए थे उन्हें घेरकर, जो उनकी छत्रच्छाया में अपना ही उल्लू सीधा करना चाहते थे। 'तपोधन' की कुछ शक्ति तो अपनी दुर्बलताओं से युद्ध करने में और कुछ अपने दूत-भूतों की कमजोरियों से लड़ने में चली जाती थी—और, संकल्पित कार्य अधूरा रह जाता था। 'तपोधन' की दृष्टि तीव्र थी, अविश्वास के स्थलों को वे पहचानते थे, फिर भी मानव-हृदय की दिव्यता पर भरोसा करके अक्सर वह आँखें बन्द कर लेते थे। उनका कहना भी झूठा नहीं था कि राम आए, कृष्ण आए, बुद्ध आए, ईसा आए—अपने तपोबल से सबने युग को थोड़ा आगे बढ़ाया, पर लचीले रबर की तरह वह फिर अपनी जगह पर पहुँच गया ! सूरज आता है प्रकाश फैलाता हुआ और सारा भुवन आलोकित हो उठता है उसकी दीप्त दीधिति से, लेकिन उसके पीछे-पीछे लुकता-छिपता अन्धकार भी चलता ही रहता है—जो देखते-देखते उस प्रचण्ड प्रकाश को निगल जाता है। सृष्टि का यही अटल नियम है—यही अपरिवर्तनीय क्रम है। फिर भी सूरज का आना रुकता नहीं है, प्रकाश भी अपना कार्य करता ही रहता है। कोई भी हिम्मत नहीं हारता है— न प्रकाश, न अन्धकार; न पाप, न पुण्य; न झूठ, न सच। संघर्ष ही सृष्टि-चक्र का मूल-मंत्र है—और, 'जो इस चक्र पर

चढ़ा हुआ है, वह भला संघर्ष से कैसे अलग रह सकता है ?

लेकिन 'तरुण' जब इस दृष्टि से दुनिया को देखता था, तब अवसाद में पड़ जाता था—जीवन शून्य-सा जँचने लग जाता था और जोश खतम हो जाता था। मशीन की नाईं निर्जीव बनकर जीना उसे कतई नहीं भाता था। संघर्ष में कूदना ही उसका उद्देश्य नहीं होता था, कूदकर लक्ष्य के निकट पहुँचना भी उतना ही काम्य बन जाता था। अभी 'अण्णा' ही उसकी नजरों में नाच रहा था। आखिर उसका यों कूदना क्यों—कहाँ जाएगा बहकर वह, मिलेगा कोई कूल-किनारा उसे ? क्या वह पत्नी को छोड़ सकेगा, पैत्रिक संपत्ति से नाता तोड़ सकेगा, जाति-बिरादरी से अलग होकर एक नया समाज बना सकेगा—जिसमें 'अंबुजा' और उसके शिशु पर कोई उँगली न उठा सके ?...अगर नहीं बना सकेगा, तो फिर यह जोश, यह त्याग, यह पलायन क्यों ?

फिर ध्यान में आया—अगर न भागता, तब तो चक्की में पिसता ही रह जाता और 'अंबुजा' उसके लिए आजन्म अभिशाप बनी रह जाती; और—उस शिशु की ओर देखने की वह कल्पना भी नहीं कर पाता। जाने कैसा दमघोंट तिमिर उसे जिन्दगी-भर दबोचे रह जाता।...

अभी तो वह स्वच्छन्द वातावरण में साँस ले रहा है, पुलकित होकर शिशु का निरीह सौन्दर्य निहार रहा है, 'अंबुजा' की आँखों में अपने जीवन-रस की उमड़ती धारा देखकर कितना कृतार्थ हो रहा है !..

अरे, हाँ—यही है वास्तविक जीवन, यही है क्षण-भंगुर जीवन का चरम लक्ष्य, यही है लक्ष्य के प्रति चरम उन्माद। जिसमें यह उन्माद नहीं है, उसका जीना, न जीना—दोनों बराबर है।...

अनासक्त भाव से संघर्ष करते रहना सृष्टि-चक्र का अटल नियम हो सकता है; क्योंकि वह नियति के हाथों का खिलौना है—अज्ञात नियामक के इंगितों पर नाचता रहता है। परन्तु मानव वैसा पराधीन नहीं है, किसी मन-मौजी के हाथों की कठपुतली नहीं है। विश्व-विभु ने उसमें एक ऐसी अद्भुत शक्ति भर दी है—जिसके सहारे वह सृष्टि के नरक को भी स्वर्ग में बदल दे सकता है; और, यदि चाहे तो उसके नन्दन-कानन को भी धूल में मिला दे सकता

है। देव और दानव—दोनों बनने की अद्‌भुत क्षमता उसमें पाई जाती है। सृष्टि का कौन-सा नियम ऐसा है, जो इस आनन्दानुभूतिशील प्राणी को अपने घेरे में रोक सकता है ?...

भूख-प्यास जहाँ दूसरे जीव जन्तुओं को व्याकुल बना देती है, यह उन्मद मानव हँसी-खुशी के साथ 'अनशन' करके तिल-तिल मिट सकता है; साँस बन्द हो जाने पर जहाँ दूसरे जीव क्षण में दम तोड़ देते हैं, प्राणायाम के बल पर यह पागल प्राणी घंटों नाक बन्द करके सानन्द बैठा रह सकता है; निसर्ग ने इस दुर्बल-देह को उड़ने की ताकत न दी, पर आज वह व्योम का बिहार कर रहा है...

नहीं, नहीं—सृष्टि के नियम जड़ हैं और यह चेतन-तत्त्वों से परिचालित है—जिस पर पूर्णतया इसी का अधिकार है। उन्माद-ग्रस्त प्राणी कुचल जाए, पर आने वाली पीढ़ी के लिए पद-चिन्ह अवश्य छोड़ जाएगा—जिसे निसर्ग का आँधी-तूफान भी नहीं मिटा सकता है।

राम-कृष्ण और बुद्ध-ईसा व्यर्थ नहीं जिए, उनका बलिदान विफल नहीं हुआ, उनके पद-चिह्न आज भी उजागर हैं और आज भी असंख्य जनों को अपनी ओर आने का आमंत्रण दे रहे हैं।

हठात् वह चौंक उठा—'असंख्य' शब्द उसे विचित्र मुद्रा से घूरने लग गया :

संख्या के बल पर अगर युग-धर्म को तौला जाए, तब तो राम से रावण के ही अनुनायी बहुतायत से पाए जाएँगे !

सती नारियों में सीता की संख्या शायद उँगलियों पर भी बस न हो, पर शूर्पणखा की गिनती ही नहीं हो सकती। फिर भी हर युग राम और सीता को ही खोजता रहा है—और शूर्पणखा व्यंग्य-विनोद की ही सामग्री बनी रह गई है।

'अण्णा' राम होने का स्वप्न न देख सके, पर 'अंबुजा' अपनी फटेहाली में भी भुलाई नहीं जा सकती—जैसे विराट् वाल्मीकि परित्यक्ता सीता को नहीं भुला सके। 'अंबुजा' का वह नादान शिशु भी समाज को ललकार सकेगा, नई रचना करने में समर्थ हो सकेगा—जैसे कभी सीता के लव-कुश ने जगज्जयी पिता और उनके समाज को भी ललकार दिया था।

युग की रूढ़ दीवार पर धक्का देना ही युग-परिवर्तन का क्रम है। और, छोटा-बड़ा जो भी धक्का लगता है उस दीवार में, कभी व्यर्थ नहीं जाता—एक दिन अनजाने ही वह दीवार ढह-ढनमना जाती है और युगान्तर हो जाता है। हाँ धक्के लगते रहने चाहिए...

'तरुण' अपनी चिन्ता-सरणि में आप मग्न हो रहा था कि डाकिया आया और दो पत्र उसके हाथ में रख गया।

एक पत्र मद्रास के मित्रों का था, जो उसे मद्रास बुला रहा था—'तपोधन' के स्वागत-समारोह को सफल बनाने के लिए। दूसरा था 'अण्णा' का, जो 'अंबुजा' का बखान कर रहा था। 'तरुण' सब कुछ भूलकर उसी में मग्न हो गया :

'उदार हृदय,

कृतज्ञ हैं हम तुम्हारे उस अतुल आतिथ्य के लिए। राम के बाण-भय से जिस प्रकार अपराधी जयन्त मारा-मारा फिरा था चौदहो भुवन में, हम दोनों भी भटक रहे हैं—और, कहीं ठौर नहीं पा रहे हैं। फिर भी थका-माँदा जब लौटता हूँ और गोद में शिशु को लिए 'अंबुजा' उमड़ती सहानुभूति और आकुल सहयोग की भावना से मेरा मुँह जोहने लग जाती है, तब सचमुच मैं सब कुछ भूलकर नई दुनिया में आ जाता हूँ।

सहानुभूति—'तरुण'—सच्ची सहानुभूति मुर्दे में भी नई जिन्दगी डाल देती है। माँ इसी लिए इतनी प्यारी होती है; क्योंकि उसका दिल सच्ची सहानुभूति से उमड़ता रहता है अपनी सन्तान के प्रति।

'अंबुजा' आकुल है मेरी धूल झाड़ने को। मेरे मित्र मुझसे आँखें चुराते हैं। जो कभी मेरे टुकड़ों पर जीते थे, देखकर छिप जाते हैं और व्यंग्य विनोद करने लग जाते हैं। लेकिन मैं जरा भी घबराता नहीं हूँ। जब जान-बूझकर ओखली में सर दिया है, तब चोटों से क्या डरना।

संतोष की बात तो यह है—कि जैसे-जैसे संकट बढ़ता है, 'अंबुजा'

का प्रेम गहराता जाता है। यों सटती है मेरे शरीर से, यों प्रसन्न होती है मुझे देखकर—जैसे उसमें नई शक्ति और नई स्फूर्ति आ गई हो। कहती है—चिन्ता क्या है; हम दोनों पढ़े-लिखे तो हैं ही, शरीर से भी कमजोर नहीं हैं। नौकरी नहीं मिलेगी, तो मेहनत-मजदूरी भी करके जी लेंगे।

एक क्षण भी वह व्यर्थ नहीं गँवाती है। सीना-पिरोना, पढ़ना-पढ़ाना, कताई-धुनाई—जब देखो, कोई-न-कोई काम करते ही पाओगे उसे।

जब-न-तब कह बैठती है—'परनाले में गिरा हुआ आदमी पावन गंगा में अवगाहन करके जैसा सुख और शुचिता का अनुभव करता है, तुम्हारे साथ रहने में वैसी ही मनः-स्थिति होती है मेरी। एक दिन अपनी बीती बातें सुनाती-सुनाती एक ऐसी घटना का जिक्र कर गई—जो मेरे कलेजे को चाक-चाक बना गई। उसमें यौवन है, इसका तो ज्ञान उसे रहा है, परन्तु दूसरों पर उसका क्या आकर्षण पड़ता है, इसका ज्ञान उसे बहुत कम था। एक दिन सिनेमा देखने के बहाने जब उसका वह शराबी उसे एक चंडूखाने में छोड़ कर कहीं चला गया, उस रात उसकी जो दुर्दशा हुई और जिस धीरता से उसने उसका सामना किया, सुनकर मैं रोमांचित हो उठा। उस चंडूखाने में कुछ ऐसी सूरतें भी थीं—जो उसके घर कभी-कभी आती थीं और आदर-भाव से बातें करती थीं। लेकिन उस रात चील-गीध की तरह, कुत्ते-कौए की तरह उन लोगों ने उस पर जैसी चढ़ाई कर दी, जैसी नोच-चोथ मचाई—यथा-तथ कहा नहीं जा सकता...

किसी तरह अधकचरी होकर घर तो वह लौटी, परन्तु उसकी आत्मा ने उसी दिन से बगावत करने की ठान ली।

और जब मेरी चंचलता उसने देखी, तो एक दिन मेरे सामने ही उसने यों सिर पीट लिया—कि मेरा नशा उतर गया। पर मेरा भी बाँध टूट चुका था—और, मैंने उसकी बाँह मजबूती से पकड़ ली—'संगिनी बन जाओ मेरी; मैं तुम्हे छोड़ूँगा नहीं। आओ, हम इस

पाप को पुण्य में बदल दें ...'

'तरुण'—मैं सुखी हूँ इसके साथ। इस जीवन में मद नहीं है, मगर मस्ती बहुत है। 'अंबुजा' का स्पर्श मुझमें चिनगारी नहीं भरता है, मेरी धमनियों में बिजली नहीं छिटकाता, लेकिन जब हम एक-दूसरे में डूबते हैं, तब अथाह में पैर टटोलते नहीं रह जाते हैं—थाह पाकर, चुस्त-दुरुस्त होकर, हमारे मन-प्राण आश्वस्त हो जाते हैं।

'तरुण'—जैसे मशीन के कल-पुर्जे खास माप में ही पूरे फिट होते हैं मानव-जीवन भी वैसा ही पूरक-संगी पाकर कृतार्थ होता है। 'अबुजा' का सहयोग भीतर-बाहर से मुझे वैसा ही फिट बना रहा है।

लोग मुझ पर तरस खाते हैं, मुझे पागल समझते हैं, पर मैं पूर्ण सन्तुष्ट हूँ इस नव-जीवन में। 'अंबुजा' मेरे जीवन में 'अभिशाप' बन कर नहीं आई है, नया वरदान लाई है। हम एक नई दुनिया का निर्माण करेंगे—जिसमें मानव अपना यथार्थ पूरक आसानी से ढूँढ़ सकेगा···

समझ में नहीं आता—कि 'तपोधन' से तुम्हारी बात कहकर मैंने गलती की या ठीक किया। बैंगलोर में जो दृश्य मैंने देखा, वह चौंकाने वाला था—और, मैं तुम्हारी बातों पर शक करने लग गया था। लेकिन तुम्हारी मुद्रा आश्चर्य में डाल देती है—आँखों में जो गर्व-समुद्र उमड़ रहा था, उसकी थाह मैं नहीं पा सका। फिर भी सोचता हूँ—तुम मेरी तरह सुखी नहीं हो सकोगे उसके साथ।

'तरुण', फटेहाली में ही कोई अपना सर्वस्व प्रदान कर सकता है। मैं अपनी फटेहाली में खुश हूँ; और, चाहता हूँ—तुम भी उसे अपनी फटेहाली में खींच लो···

तुमने मुझे कुछ बताया नहीं, इसका बुरा मैं नहीं मानता; क्योंकि वह तुम्हारा निजी मामला है और तुम पर कदापि कोई दबाव नहीं डाला जा सकता है—स्नेह का भी नहीं। लेकिन तुमने अब जो रुख अख्तियार किया है अपने जीवन के सम्बन्ध में, उससे इतना तो अन्दाज लगा ही सका—कि गति कहीं अवरुद्ध है अवश्य। हो सकता है, इसमें मेरा भी

कुछ हाथ हो; क्योंकि, अपनी बात छिपाकर मैंने तुम्हारी ही बात उनसे कह दी थी—जिससे तुम शीघ्र सुखी हो सको। उसका उलटा परिणाम भी निकल सकता है। फिर भी मेरी नीयत बुरी नहीं थी, इतना तो मैं कहूँगा ही।

जो भी हो, तुमने जिस उदारता से हमारा स्वागत किया अपनी कुटिया में, वह कैसे भुलाया जा सकता है? हृदय की महानता वास्तव में इसी में देखी जाती है—कि कोई अपनी बात कितनी कम कहता है; और, दूसरे की कितनी अधिक सुनता है। तुमने अपनी पीड़ा गुप्त रख कर हमारी कष्ट-कथा जिस सहानुभूति से सुनी, उसने हमें तुम्हारा बेदाम का गुलाम बना दिया है।

तुम्हारा ही'

पुनश्च :

'हाँ, 'तरुण', बुरा न मानना अगर मैं अगाह कर दूँ तुम्हें—कि दो नावों पर पाँव कभी मत रखना। तुम मेरा मतलब समझ रहे होगे।···

मैं किसी को दोष नहीं देता हूँ अपनी इस दुरवस्था के लिए—जैसा किया, समाज ने मुझे वैसी सजा दी। अब यह सजा ही मेरे लिए सजावट बन जाए, प्रयास यही है हम दोनों का···'

'तरुण' ने 'अंबुजा' को अचरज से देखा था, परन्तु उस समय उसके शिशु ने उसे जैसा आकृष्ट किया था, वैसा उसने नहीं। इस पत्र से उसका जो चरित्र खिलता-खुलता था, वह उसे एक दूसरी ही दुनिया में खींचे लिए जा रहा था। 'फटेहाल ही फटेहाल को सर्वस्व प्रदान कर सकता है'—कैसा मार्मिक कथन है! बार-बार वह वाक्य 'तरुण' को अपने पंजों में जकड़ लेता था।

'अंबुजा' पर पहले वह तरस खाता था, पर अब गर्व करने लगा। दोनों फटेहाल हैं, इस लिए इतने पूरक बन रहे हैं एक-दूसरे में समाकर। पर जैसे बड़े पुर्जे के भीतर से छोटा पुर्जा निकल जाता है, वह 'रमा' के जीवन में समाकर भी समरस नहीं हो पाता था ····लेकिन, यह—'दो नावों' वाली बात उसकी समझ में नहीं आ रही थी···

इसी उधेड़-बुन में पड़ा हुआ था—कि कोई आकर सामने खड़ा हो गया चुपचाप।

'तरुण' इतना तन्मय था उस पत्र में—कि उसकी आहट का पता न पा सका। इतने में सुन पड़ा—'सामी…' उसने चौंककर मुखड़ा उठाया; और अपने आगे 'मिनिया' को देखकर भौंचक रह गया—क्या देख रहा था वह?—कौन खड़ा था उसके सामने—मिनिया—या मिनिया का भूत?…

भूत-प्रेत पर विश्वास न होने पर भी 'तरुण' के रोंगटे खड़े हो गए और वह एक अगम्य भाव से उसकी ओर देखता रह गया—जैसे मौन भाषा में ही पूछ रहा हो—कहो, कौन हो तुम? सूरत-शक्ल पहचानता हूँ, बोली भी वही है, पर तुम वह नहीं हो—जिसकी ऐसी नकल तुमने की है।

'मिनिया' उसके अन्तर की आकुलता न समझ सकी—और, उसके मौन से घबराने लगी। फिर धीरे-धीरे उसने अपनी गठरी खोली और एक सन्दूकची निकाल कर 'तरुण' के आगे रखती हुई फुस-फुसा उठी—'पिन्नम्मा…सामी… पिन्नम्मा…'

'तरुण' की काल्पनिक भूत-भीति भाग खड़ी हुई और उसने सन्दूकची को पहचान कर कुछ संकोच से ही उठाया। सोचा—शायद पत्र भी इसी में होगा। लेकिन उसने तुरत सन्दूकची अन्दर रख दी—और, वह 'मिनिया' की खातिरदारी में लग गया यह सोचकर कि जाने कहाँ से, कैसे चलकर आई है यहाँ तक।

'मिनिया' अधबोलिया थी—और, उसकी भाषा 'तरुण' ठीक-ठीक नहीं समझ पाता था, इसलिए ज्यादा इंगितों से ही काम लेता था। लेकिन आश्चर्य—'मिनिया' उसकी सभी बात खूब समझ जाती थी।

उधर 'तरुण' उसके स्वागत-सत्कार की बात सोच ही रहा था कि इधर 'मिनिया' उठी और 'कुटिया' के अन्दर जाकर यों झाड़ू-बहारू करने लग गई—जैसे वही इस मड़ैये की मालिकिन हो।

'तरुण' अचरज से देखता रह गया—किस सहज भाव से इसने इस 'कुटिया' को अपना लिया है। यह इसकी 'फटेहाली' का गुण है—व्यक्ति विशेष का नहीं। 'अंबुजा' ने 'अण्णा' को इसी तरह अपनाया है।…क्या 'रमा' उसे यों अपना सकती है?…नहीं, क्योंकि वह पद-प्रतिष्ठा के पालने में

पली है। 'फटेहाल ही फटेहाल को सर्वस्व प्रदान कर सकता है'—'अण्णा' का वह वाक्य कितना सार्थक है !...

लेकिन वह सर्वांगीण सत्य भी है क्या ?—क्या यह 'फटेहाली' जीवन की मूर्च्छा नहीं मानी जाएगी ?—यह नैसर्गिक है क्या ?...नहीं, यह तो मानव-कृत व्यवस्था है—मुट्ठी-भर चतुर-चालाक लोगों ने निसर्ग के उदार अवदान को कल-बल-छल से अपनी मुट्ठी में करके बहु-संख्यक लोगों को 'फटेहाल' बना रखा है—केवल अपने और अपने बाल-बच्चों के सुख-स्वार्थ के लिए।...और आश्चर्य तो यह है—कि उन स्वार्थियों को खुश करने वाली वंचक मेधा-प्रतिभा ने भी मूढ़ जनता में काल्पनिक 'भाग्य-भोग' का अग-जग-व्यापी प्रचार करके इस 'फटेहाली' को सह्य ही नहीं—सराहनीय भी बना दिया है! ··यों बे-सिर-पैर की बातें सोचता और इसके लिए अदृश्य अपराधी को कोसता वह कल्पनाशील युवक कुटिया के अन्दर घुसा—और, वहाँ जाकर उसने जो कुछ देखा, उससे वह और अचंभे में पड़ गया।...

'मिनिया' को खूब मालूम था कि 'तरुण' क्या खाता है। झाड़-बुहार कर उसने रसोई के बर्तन माँज लिए, चौका लीप-पोत दिया और नहा-धोकर आटा भी गूँथ लिया था। हरी तरकारी जो वहाँ थी, उसे काट-छीलकर धो लिया और अंगीठी जलाने का उपक्रम करने लग गई थी। परन्तु सलाई न मिल रही थी उसे—उसी समय 'तरुण' अन्दर पहुँचा और हैरत से देखने लगा।

अंगीठी जली और तरकारी की कड़ाही भी चढ़ गई। किन्तु उसके बाद वह चिल्ला उठी—'सामी...!'

'तरुण' ने देखा—'मिनिया' चौके से निकल आई और इंगितों से बताने लगी—कि वह जाकर अब तरकारी बनाए···

'मिनिया' जो देखती आई थी, वही कर रही थी। चौके में उसका प्रवेश नहीं होता था। रसोई के लिए पानी भी वह नहीं भरती थी। किन्तु यहाँ तो दूसरा कोई था नहीं, इसलिए इतनी दूर तक उसने वह सब कर दिया, परन्तु उसके बाद तो 'तरुण' को ही करना था। हाँ, वह रोटी जरूर बेल देगी—इसकी तैयारी में थी।

यह देखकर 'तरुण' ने उससे बहुत कहा—कि जाकर वह जैसा कुछ बनाना जानती है, बनाए—मगर वह इसके लिए राजी न हो सकी!

ऊँच और नीच का यह भेद-भाव कितनी गहराई से बैठा था 'मिनिया' के मन में- वह नीच है; और, 'तरुण' उच्च वर्ग का है, इसे उसने वंश-परंपरा से सहज रूप में स्वीकार किया था। कभी कोई विरोध उठा ही नहीं था उसके मन में—आज भी वह अपनी सीमा से बाहर जाने को तैयार न थी। परन्तु 'तरुण' भी दृढ़ था—कि आज उसी के हाथ का कच्चा-पक्का वह खाएगा।

'मिनिया' की दृष्टि उतावली से दौड़ रही थी अंगीठी और 'तरुण' की ओर, लेकिन 'तरुण' टस-से-मस न हो रहा था। आखिर झुँझलाकर 'मिनिया' ने अदृश्य देवता को हाथ जोड़कर प्रणाम किया—और, कान पकड़ कर गालों को थप-थपाया; और, काँपते चरणों से चौके में यों प्रवेश किया—जो दर्शनीय और दयनीय दोनों था।

लालटेन की रोशनी में सन्दूकची रखकर 'तरुण' ने उसे गौर से देखा। इतने में 'मिनिया' ने कमरे से निकलकर एक चाबी उसके सामने फेंक दी। चाबी हाथ में लेकर वह यों देखने लगा उस सन्दूकची को, जैसे उसमें साँप-बिच्छू बन्द हों—जो खोलते ही उसे डस लेंगे। साथ ही एक उत्सुकता भी खेल रही थी उस चितवन में; क्योंकि, पत्र भी तो होगा उसी में।

'मिनिया' तो चाबी फेंककर फिर चली गई चौके में—और, इधर सन्दूकची खोलकर वह पत्र पढ़ने लग गया।

पत्र देखते ही 'तरुण' आश्वस्त हो उठा; क्योंकि, वह संकेत-लिपि में था—जिसे उन दोनों को छोड़कर तीसरा कोई विधाता भी नहीं पढ़ सकता था।

'तरुण' एक-एक अक्षर को इस तन्मयता और सुस्थिरता से पढ़ रहा था—जैसे नन्दन कानन में बैठकर कोई अमृत-पान कर रहा हो :

'प्राण, हृदयालिंगन।

प्रतिबन्ध इतना कड़ा है—कि अन्त में इस उपाय का अवलम्बन करना पड़ा है। आँख-दर्द का बहाना करके 'मिनिया' तीन दिन से अपनी झोपड़ी में पड़ी रही थी। बाप उसको नेत्र-चिकित्सक के यहाँ ले जा रहा है। दो-चार दिन तुम्हारे यहाँ रहकर फिर लौटेगी।

पत्रोत्तर इसी लिपि में और इसी के हाथों दोगे।

घर में डाक्टर का दौरा है—रात-दिन वह घेरे रहता है। मधुर-भाषी ऐसा कि रुख पहचान कर भी बुरा नहीं मानता है। दूर नाते में पड़ता है और बिदेश जाकर डिगरी ले आया है। अच्छी प्रैकटिस है और घर से भी अच्छा है। विचार आधुनिक, फैशन भी आधुनिक, लेकिन आचार में कट्टर सनातनी—बिना सन्ध्या-वन्दन के काफी तक नहीं पीता। हो सकता है, घर के लोगों को खुश करने के लिए यह ढोंग रच रहा हो।

पहली पत्नी तीन मास का बच्चा छोड़कर चल बसी है। पिताजी उस पर लट्टू हैं। अम्माँ मेरा मुँह देखकर मौन हैं—और, जीजी की खूब गहरी पैठ है उसमें।

पिताजी अनेक तरह से समझाते-बुझाते हैं मुझे। कभी-कभी कुछ धमकी भी दे देते हैं तुम्हारा चरित्र और भविष्य को खोदकर। उनके कहने का इतना ही सारांश है—कि तुम्हारे साथ मुझे जिन्दगी-भर रोना पड़ेगा; और डाक्टर के साथ चैन-ही-चैन की वंशी बजेगी।

मन लुढ़कता है, पर आत्मा रोती है। पहले एक के साथ अनिच्छुक बैठना पड़ा था। फिर तुम्हारी गोद में बैठी अपनी इच्छा से। अब इन लोगों के दबाव से एक तीसरे की लल्लो-चप्पो-भरी बातें सुननी पड़ रही है। मन उमगता है, पर शरीर सिकुड़ता है—जिस छाती में तुम लगे थे, उसमें अब दूसरा कैसे लग सकता है? जिसे जोर जबर्दस्ती मैंने अपना सर्वस्व सौंप दिया था, अब दूसरे को क्या दे सकती हूँ?…

यह सम्बन्ध अगर स्वीकार हो, तो मुझ में और चकले वाली में क्या अन्तर रह जाएगा? शरीर के सुख के लिए आत्मा का यह हनन कैसे बर्दाश्त हो?

तुमने सब कुछ कह ही दिया होगा पिता से; फिर भी इन्हें कोई चिन्ता नहीं है मेरी आत्मा के लिए—आश्चर्य होता है यही देखकर! कौन जाने यह डाक्टर भी एक दिन अचानक चल बसे—या मुझे ही

कुछ हो जाए !...

सोचती हूँ, खूब सोचकर देखती हूँ—जीवन का सत्य यह अनित्य शरीर नहीं है। नित्य वही है, सत्य वही है—जिसके बल पर जीभ बोलती है, आँखें देखती हैं और उँगलियाँ लिखती हैं। मेरा वह सत्य और नित्य यह सम्बन्ध स्वीकार नहीं करता है।

मानती हूँ—कि यह जीवन निरा सत्य और नित्य को लेकर नहीं चलता है। असत्य और अनित्य के साथ समझौता करके ही जीना होता है। अनित्य की भूख-प्यास बड़ी प्रबल होती है, यह भी झूठ नहीं है। तृष्णा और भोग उसी भूख के भिन्न-भिन्न नाम हैं। किन्तु उसकी भी एक हद होनी चाहिए।

यह भी चिन्तनीय हो जाता है—कि जिसने भोग नहीं भोगा, उसके त्याग का कोई मूल्य नहीं होता। एकरस भोग या नीरस त्याग दोनों ही त्याज्य हैं। इसी लिए जनक ने योग और भोग दोनों को हथेलियों पर रखकर ही जीवन का महान् प्रयोग किया था। मैं उस प्रयोग का गर्व तो नहीं कर सकती, परन्तु उसकी परम्परा मुझे बहुत आकृष्ट करती है।

हाँ, मैं तुम्हारी 'फटहाली' को पसन्द नहीं करती। फटेहाली जीवन की अवहेला है—मेरी नस-नस तन जाती है इसके विरुद्ध—और, वर्तमान व्यवस्था के साथ बगावत करने की आकुलता मेरे मनको मथने लग जाती है। मनुष्य की बुद्धि और विवेक ने युग को बदल दिया है—वह आगे बढ़ता जाता है सुख और समृद्धि की ओर। युग की इस प्रगति को रोककर हम 'फटेहाली' की ओर ढकेल नहीं सकते हैं। ढकेलना ठीक भी नहीं है—पाप है। फिर भी दोनों को 'अति' से बचाकर ही ले चलना होगा। अति भोग और अति त्याग—दोनों की सीमा तोड़कर जीवन में समरसता की स्थापना ही श्रेयस्कर प्रतीत होती है।

सन्दूकची देखकर तुम चिढ़ोगे—जानती हूँ; फिर भी भेज रही हूँ। लाचारी ही समझो मेरी। तुमने मेरे लिए बहुत-कुछ त्याग

किए हैं, परन्तु मेरे पास तो और कुछ है नहीं इसके सिवा। और इसको भी मैं त्याग नहीं मानती हूँ। यह एक पूँजी है—जिसके बल पर हमारा भविष्य सुखी हो सकता है। तुम इसके बल पर विदेश जाओ और पद-प्रतिष्ठा लेकर लौटो—जिससे हम स्वतंत्र और सुखी जीवन बिता सकें।

यह खूब समझ लो—कि पिता की सम्पत्ति पर मेरा कोई मोह नहीं है। उनकी धमकी ने मेरे आत्म-संमान को जाग्रत कर दिया है। अब मैं उनके पैसे पर जीना नहीं चाहती। परीक्षा पास करके मैं स्वतंत्र जीवन बिताऊँगी तुम्हारे साथ। यह मेरा निश्चय है।

गुस्सा न करके—जो उचित समझ में आए, मेरा मार्ग-निर्देश करना। तुमने ही मेरी आँखें खोली हैं और तुमने ही मेरी बाँहें भी पकड़ी हैं। अतः सह-जीवन की जिम्मेवारी निभाने से पीछे नहीं हटना।

'मिनिया' ही अभी हमारे जीवन का सूक्ष्म-सूत्र है। आँखों पर पट्टी बाँधकर और कुछ दवा-दारू लेकर ही लौटे—इसकी सावधानी बरतोगे।

सदा तुम्हारी ही'

पत्र पढ़कर एक ओर जहाँ कुछ आत्म-तोष हो रहा था—कि 'रमा' उसी की है और आजन्म उसी की रहेगी भी; वहाँ जीवन संबंधी उसके विचार उसे काफी झकझोरने भी लग गए थे। अपने विचारों में कोई परिवर्तन करना उसे मंजूर न था—और, उसके विचारों के साथ समझौता करना और भी कठिन जान पड़ता था। सबसे बड़ा सिर-दर्द तो था विदेश जाकर डिग्री लाना—जिसके लिए उसकी आत्मा तैयार न हो रही थी। विदेश जाने में वैसी कोई बाधा न थी, किन्तु उसके गहने बेचकर वह कैसे जाए? जरूरत पड़ने पर जेवर भी बेचे जाते हैं, किन्तु झूठी सामाजिक दृष्टि के लिए तो ऐसा गर्हित कार्य वह कदापि नहीं कर सकता है। मगर उसका आग्रह कैसे टाला जाए—जब वह इस प्रकार हठ करके बैठ गई है सबको ठुकराकर।

'मिनिया' ने बड़ा स्वादिष्ट खाना बनाया था। चाहती थी—वह प्रेम से खाए और उसकी आँखों में वह प्रेम उमड़े। मगर यहाँ चिन्ता का ऐसा जोर था—जो सारे स्वाद को शून्य में बदलता चला जा रहा था। यह भी स्पष्ट था कि विचार उसका जैसा भी दृढ़ हो, परन्तु उसके आग्रह के सामने उसे झुकना ही पड़ेगा – यह सचाई और भी चुभ रही थी उसके मर्म में।...क्या प्रेम इतना निर्मम होता है, इतना अत्याचारी होता है, इतना शून्य बना देता है!... हाँ, जो जितना ही अधिक चिपकता है, वह उतना ही चूसता भी है—और, निस्स्व बनाकर छोड़ देता है! 'रमा' ने उसे उसी तरह पकड़ा है—और, अपनी इच्छा पर नचाती रहेगी इस विमूढ़ को। 'रमा' ही क्यों, 'अंबुजा' भी तो 'अरुण' को उसी तरह उड़ाए चली जा रही है। सच, जो प्रेम करती है, उसकी प्रबलता भी मान्य हो जाती है। सीता के आगे धनुर्धर राम की कुछ चली—आखिर झख मारकर साथ लेना ही पड़ा था—उस विषम परिस्थिति में भी...

लेकिन वह सन्दूकची उसे काटती थी, देखकर ही वह सिहर उठता था—जैसे उसमें विषैले जीव रेंग रहे हों! उसको छूने में भी संकोच होता था। लेकिन यह भी भय था—कि 'मिनिया' इसे लौटा ले जाने को शायद ही तैयार हो सकेगी। मगर जैसे भी हो, लौटाना तो होगा ही—वह भीख माँग कर जाएगा, पर इसमें तो हर्गिज हाथ नहीं डालेगा...

कई दिन से 'तरुण' यों निर्णय कर रहा था। एक दिन आँख वाला वह डाक्टर आता दिखाई पड़ा। संभ्रम में पड़कर वह उठ खड़ा हुआ और आगे जाकर सादर उसे कुटिया में ले आया।

'डाक्टर' नाम से साधारणतया जिस वेश-भूषा का ज्ञान होता है आदमी को, उसका यहाँ कहीं पता न था। सफेद खादी का कुरता और नाटी धोती, पैरों में चप्पल और सिर खाली – कटे-छँटे छोटे छोटे बाल। आधुनिक उपकरणों में एकमात्र चश्मा नाक पर बैठा दीखता था। कद नाटा, रंग गोरा और अंग पुष्ट। आँखें छोटी ही, परन्तु हँसती हुई। बोली धीमी, किन्तु उच्चारण स्पष्ट। अनावश्यक बातों से परहेज। देखते ही मालूम हो जाता था—'तपोधन' का कोई तपोनिष्ठ अनुयायी सामने खड़ा है।

आते ही कुशल-प्रश्न के पश्चात् डाक्टर ने पूछ दिया :

'मिनिया नामक कोई लड़की यहाँ आई है क्या ?'

'आई तो है...'

'मेरे एक डाक्टर-मित्र का पत्र आया है मेरे पास। उनका कहना है—कि बाप के साथ वह आई थी आँख का इलाज कराने, पर स्टेशन पर उतरते ही जाने कहाँ लापता हो गई और बाप बेचारा घर लौट गया है। मेरे मित्र उसमें कुछ दिलचस्पी रखते हैं। उनका इशारा आपकी ओर है, इसी से मैं दर्याफ्त करने आ गया। कैसा है आँख का दर्द, अगर दिखाना चाहे, तो दिखा सकती है।'

'तरुण' कुछ अकचकाया और असमंजस में पड़कर बोला :

'आँख का दर्द लेकर ही वह आई है। चूँकि मुझे पहले से जानती थी, इस लिए यहीं चली आई। दर्द अभी कम है और मैं उसको लेकर आपके पास आना ही चाहता था। यों बाहर से तो कोई विशेष तकलीफ नजर नहीं आती है—भीतर में क्या है, यह तो आप ही जान सकेंगे।'

डाक्टर से बात करने में बड़ी सावधानी की जरूरत पड़ती थी; क्योंकि संयमी के साथ-साथ वह कठिन व्रत-धारी भी था। दूसरे डाक्टरों की तरह केवल फीस पर दृष्टि नहीं रहती थी उसकी—सच्ची सेवा-भावना से प्रेरित होकर ही वह इलाज करता था। अभाव-ग्रस्तों को अपनी ओर से भोजन-वस्त्र की भी व्यवस्था वह कर देता था। फीस भी बँधी थी—उससे ज्यादा एक पैसा भी अधिक वह न लेता था—आग्रह करने पर भी नहीं।

यही नहीं, उसके हाथ में निपुणता और सुयश ऐसा था—जो उसे लोक-प्रिय बना रहा था। बाह्य-चक्षु के इलाज के साथ-साथ वह मरीज के अन्तः-चक्षु को भी खोलने की व्यवस्था करता था। जो मरीज जमा होते थे, उनसे सुबह-शाम प्रार्थना करवायी जाती थी और प्रवचन की भी व्यवस्था थी। विनय के पद बड़े प्रेम से गाए जाते थे।

डाक्टर निखालिस सत्पुरुष था—रंचमात्र भी मिलावट का कहीं नाम नहीं था उसमें। ऊँचे वंश में पैदा हुआ था, लेकिन जब से 'तपोधन' की छाया उसपर पड़ी, एकनिष्ठ हो गया—सेवा में ही भगवान् को ढूँढ़ना।

माँ-बाप कट्टर सनातनी थे—और, वर्षों अलग-अलग रहते आए थे। परन्तु डाक्टर ने विनय-शीलता, धैर्य और अपने पक्ष-पोपण का ऐसा अटूट क्रम रखा—कि आखिर उनकी कट्टरता खिसकी और सब साथ रहने लग गए।

पत्नी भी संयम की कायल न थी, परन्तु रात-दिन उसके कानों में प्रेम-प्रवचन के ऐसे स्रोत बहते रहे—कि एक दिन वह पिघली और जैसा वह चाहता था, प्रसन्नता-पूर्वक करने लग गई। धीरे-धीरे सारा परिवार ही एक आश्रम बन गया।

एक बार धर्म और राजनीति के सम्मिश्रण के संबंध में 'तरुण' का थोड़ा मतभेद कहीं हुआ, तो डाक्टर ऐसा उद्विग्न हुआ कि घंटों उसके साथ तर्क-वितर्क करता रह गया—और, जबतक दोनों एक तथ्य पर नहीं पहुँचे, वह वहाँ से टला नहीं।

इसी लिए 'तरुण' अतिरिक्त सतर्कता बरतता था उसके साथ बातें करने में। डाक्टर पूरा सज्जन था, पर निष्ठा की तलवार पर चलता था वह। 'तरुण' में और जो भी गुण-दोप हों, किन्तु निष्ठा की वैसी तलवार से वह अन्दर-अन्दर सहमता भी रहता था।

डाक्टर जाने क्यों—'तरुण' को बड़े भाई की तरह समादर की दृष्टि से देखता था और अक्सर उससे प्रवचन करवाता था अपने यहाँ। संभवतः वह उसकी अन्तर्धारा से उतना परिचित न था—या श्रद्धा की वह सरल माँग थी।

'मिनिया' को दर्द-वर्द तो कुछ था नहीं, पर डाक्टर से दिखाना और दवा-दारू लेना जरूरी था—जिससे गफलत का पर्दा न उठे। 'मिनिया' इसके लिए तैयार होकर आई थी। डाक्टर को देखते ही उसने आँखों में कुछ डाला और मलकर लाल कर लिया। जब 'तरुण' ने उसे पुकारा, तो आँखों से पानी चुलाती वह बाहर निकली।

सरल-निश्छल डाक्टर को इस छल-छन्द का पता चला कि नहीं—यह तो वही जाने, परन्तु देख-भाल कर उसने कोई उद्विग्नता प्रकट नहीं की और 'तरुण' का मुँह देखता यों बैठा रहा—जैसे वह कुछ और जानना चाहता हो उससे।

'तरुण' उस चितवन से एक विचित्र असमंजस में में पड़ गया—जैसे कलेजे में काँटे चुभ रहे हों। बदन को झाड़कर वह बोला :

'क्या दीखता है ?'

'आँख में तो कुछ दीखता है नहीं, परन्तु...'

कहकर डाक्टर रुक गया—जैसे उसे भी कोई काँटा चुभ रहा हो।

सत्य की जिज्ञासा और सौजन्य की माँग में द्वन्द्व चल रहा था—कहे, कि न कहे। लेकिन जो सत्य की शरण में जाता है, उसे अप्रियता का यह काँटा भी अपनाना पड़ता है। डाक्टर ने उस 'अप्रियता' को खूब प्रिय शब्दों में लपेटकर निकाला :

'मिनिया कोई खास सन्देश भी लाई है आपके लिए ?'...

अप्रियता का वह काँटा निकलकर 'तरुण' के हृदय को छेदने लग गया। काँटा काँटे से ही निकलता है—और, अपने साथ कुछ स्वजातीय तत्त्व भी निकाल लाता है। ममता और आत्मानुभूति का प्रदर्शन उन्हीं तत्त्वों की मिश्रण-प्रक्रिया पर आधारित रहता आया है। अतः 'तरुण' कुछ कछमछाता हुआ बोला :

'कैसे कहूँ कि नहीं लाई है—लाई तो है जरूर, परन्तु...'

'हाँ, आपकी दुविधा बिलकुल ठीक है—मेरा अपना कोई मतलब नहीं है, परन्तु मेरे एक मित्र ने मुझे आपसे कुछ अनुरोध करने का आग्रह किया है—और, इसमें 'तपोधन' का भी कुछ संकेत है। इसी से यह ढिठाई मैंने की है। यदि अनुचित न जँचे, तो...'

'हाँ, हाँ—आप जो कुछ कहना चाहते हों, आदेश के रूप में कहें। आप मेरे लिए आदरणीय ही नहीं, अनुकरणीय भी हैं।'

'मिनिया क्या सन्देश लाई है ?'

'तरुण' उठा और अन्दर से सन्दूकची और वह पत्र लाकर उसने डाक्टर के सामने रख दिया :

'यही लाई है—देख लीजिए।'

उलट-पुलटकर देखने के बाद डाक्टर बोला :

'क्या यह सब आपकी ओर से भेंट किए गए थे—जो वापस आ गए हैं ?...'

'नहीं, यह सब उसी की ओर से भेंट है—और, मुझे इसके विनिमय से बेरिस्टर बनना है।'

डाक्टर अचंभे में आकर बोल उठा :

'क्या आप यह भेंट स्वीकार करते हैं ?'

'आप क्या कहते हैं ?'

प्रश्न अनपेक्षित था, इस लिए डाक्टर चिन्ता में पड़ गया—आया था कुछ लेने, परन्तु उलटे अब देने की बात आ पड़ी ।

अपनी उद्विग्नता को हँसी में बदलते हुए डाक्टर ने कहा :

'आया था कुछ अनुरोध करने तीन ओर से दबकर ; मित्र पर ममता है, उसके बाप पर गौरव है और 'तपोधन' का संकेत है !...किन्तु देखता हूँ—मामला उतना आसान नहीं है । इसमें कोई दूसरा क्या राय दे सकता है—यह तो आपकी आत्मा का प्रश्न है ।'

'आप तो अन्तरंग हैं, आदरणीय हैं—आत्मवत् हैं ।'

'इस दृष्टि से तो 'तपोधन' हम सब के परम पूज्य हैं । उन्हीं से...'

'नहीं, वह दरवाजा मेरे लिए बन्द है—पिता और पुत्री दोनों का आदेश है कि उन से अब कुछ कहा-सुना न जाए ।'

'किन्तु आप को क्या वह आदेश मान्य होगा ?'

'अभी तक तो मान्य ही रहा है । आगे...'

डाक्टर गंभीर आश्चर्य से 'तरुण' का मुँह देखता रह गया—जैसे उसे पहचान न रहा हो । फिर पत्र को हाथ में लेकर बोला :

'यह कौन-सी लिपि है ?'

'संकेत-लिपि है—हम दोनों ने अपने काम के लिए इसकी ईजाद की थी ।'

सीधे-सादे डाक्टर के अचरज का ठिकाना न रहा । वह 'तरुण' को 'तपोधन' का अनुयायी और निश्छल चरित्रवान् व्यक्ति समझता आ रहा था । लेकिन पहला विस्मय उस दिन उसके हाथ में गुलाब का गजरा देखकर हुआ था, दूसरा धक्का अपने मित्र का पत्र पाकर लगा और आज यहाँ आकर जो कुछ देखा-सुना, उससे उसका विस्मय विषाद में बदलने लगा ।

फिर भी डाक्टर घोर आशावादी था और अपनी मान्यता के लिए बहुत

दूर तक चला जाना उसका स्वभाव हो गया था। 'तरुण' जानता था कि डाक्टर जिस उद्देश्य से आया था, आसानी से उसे छोड़ेगा नहीं—और, जैसे-जैसे उसका विस्मय गहराता जाता था, 'तरुण' की आशंका भी बढ़ती जा रही थी।

'इतने छल-छन्द की क्या जरूरत थी—सीधी बात आप दोनों सीधे तौर पर उसके बाप से कह सकते थे। लेकिन वह तो 'तपोधन' के सामने भी झूठ बोल गई, तब उससे आप क्या आशा रख सकते हैं ?'

'मैं तो कोई आशा नहीं रखता, पर वह तो रखती है मुझसे—और, उसका प्रमाण है यह सन्दूकची और पत्र।'

'उसके लिए तो शायद आप तैयार न हो सकें—फिर दूसरों का मार्ग क्यों रोक रहे हैं ? मेरा मित्र तो उसके लिए सर्वथा उपयुक्त दीखता है।'

'मैं भी तो यही कहता हूँ—वह उसी से कर ले, मगर करना तो उसी को है।'

'आप समझा दीजिए।'

'तैयार हूँ; परन्तु, समझाने का मौका भी तो कोई दे मुझे।'

'इसकी जिम्मेवारी मुझ पर रही।'

'तरुण' समझ गया—अब कोई नया गुल खिलेगा। यह महाशय आसानी से मानेंगे नहीं—और, उस बेचारी की मौत होगी। बहुत देर तक वह सोच में पड़ा रह गया—सुलझाने का जितना प्रयत्न होता था, मामला और उलझता जाता था। आखिर उसका मुँह खुला :

'डाक्टर साहब, आपका जैसा विश्वास हो अपने ऊपर, वैसा ही कीजिए। मुझे तो अभी इस सन्दूकची की चिन्ता है...'

'तरुण' अचानक रुक गया—और, गौर से आगन्तुकों को देखने लगा।

देखते-देखते चार-पाँच पुलिस के जवान और अफसर वहाँ आ पहुँचे। उनके साथ एक सूट-बूट वाला भला आदमी भी था—जिसे डाक्टर ने पहचान लिया। वह उसका वही मित्र था—जिसके अनुरोध से वह यहाँ आया था।

पुलिस ने आते ही वारंट दिखाया और 'मिनिया' के साथ 'तरुण' को भी गिरफ्तार कर लिया सन्दूकची की चोरी के मामले में ! सन्दूकची मौजूद ही थी वहाँ --जिसे पुलिस-अफसर ने अपने कब्जे में कर लिया। आँख वाले डाक्टर ने लाख कहा, परन्तु अफसर ने कुछ नहीं सुना—दोनों के हाथों में हथकड़ियाँ पहना दी गईं—और, कमर में रस्सा भी लग गया !

'तरुण' निरपेक्ष था, मगर 'मिनिया' जाने क्यों रो रही थी !

डाक्टर की हालत डाक्टर ही जाने !

निर्जन कुटिया भाँय-भाँय करने लग गई।

—:०:—

दूर तक चला जाना उसका स्वभाव हो गया था। 'तरुण' जानता था कि डाक्टर जिस उद्देश्य से आया था, आसानी से उसे छोड़ेगा नहीं—और, जैसे-जैसे उसका विस्मय गहराता जाता था, 'तरुण' की आशंका भी बढ़ती जा रही थी।

'इतने छल-छन्द की क्या जरूरत थी—सीधी बात आप दोनों सीधे तौर पर उसके बाप से कह सकते थे। लेकिन वह तो 'तपोधन' के सामने भी झूठ बोल गई, तब उससे आप क्या आशा रख सकते हैं?'

'मैं तो कोई आशा नहीं रखता, पर वह तो रखती है मुझसे—और, उसका प्रमाण है यह सन्दूकची और पत्र।'

'उसके लिए तो शायद आप तैयार न हो सकें—फिर दूसरों का मार्ग क्यों रोक रहे हैं? मेरा मित्र तो उसके लिए सर्वथा उपयुक्त दीखता है।'

'मैं भी तो यही कहता हूँ—वह उसी से कर ले, मगर करना तो उसी को है।'

'आप समझा दीजिए।'

'तैयार हूँ; परन्तु, समझाने का मौका भी तो कोई दे मुझे।'

'इसकी जिम्मेवारी मुझ पर रही।'

'तरुण' समझ गया—अब कोई नया गुल खिलेगा। यह महाशय आसानी से मानेंगे नहीं—और, उस बेचारी की मौत होगी। बहुत देर तक वह सोच में पड़ा रह गया—सुलझाने का जितना प्रयत्न होता था, मामला और उलझता जाता था। आखिर उसका मुँह खुला :

'डाक्टर साहब, आपका जैसा विश्वास हो अपने ऊपर, वैसा ही कीजिए। मुझे तो अभी इस सन्दूकची की चिन्ता है...'

'तरुण' अचानक रुक गया—और, गौर से आगन्तुकों को देखने लगा।

देखते-देखते चार-पाँच पुलिस के जवान और अफसर वहाँ आ पहुँचे। उनके साथ एक सूट-बूट वाला भला आदमी भी था—जिसे डाक्टर ने पहचान लिया। वह उसका वही मित्र था—जिसके अनुरोध से वह यहाँ आया था।

पुलिस ने आते ही वारंट दिखाया और 'मिनिया' के साथ 'तरुण' को भी गिरफ्तार कर लिया सन्दूकची की चोरी के मामले में ! सन्दूकची मौजूद ही थी वहाँ--जिसे पुलिस-अफसर ने अपने कब्जे में कर लिया। आँख वाले डाक्टर ने लाख कहा, परन्तु अफसर ने कुछ नहीं सुना—दोनों के हाथों में हथ-कड़ियाँ पहना दी गईं—और, कमर में रस्सा भी लग गया !

'तरुण' निरपेक्ष था, मगर 'मिनिया' जाने क्यों रो रही थी !

डाक्टर की हालत डाक्टर ही जाने !

निर्जन कुटिया भाँय-भाँय करने लग गई।

—:०:—

स्वागत-समारोह

नारियल और केले से सजे पंडाल में 'तपोधन' के स्वागत की तैयारी हुई थी बड़ी धूम-धाम के साथ।

डाक्टर की जमानत पर छूटकर 'तरुण' भी आ गया था मद्रास के मित्रों के अनुरोध से बाध्य होकर। कागज-कलम हाथ में देकर मित्रों ने उसे एक कमरे में बन्द कर दिया था—स्वागत-गान लिखने के लिए। वही गान कुछ लड़कियों द्वारा गाया गया था मधुर स्वर-वाद्य के साथ—जिसका बड़ा ही सुखद प्रभाव पड़ा था एकत्र जन-मण्डली पर। 'तपोधन' को यद्यपि अपने सम्बन्ध का यह सब आयोजन पसंद नहीं था, फिर भी गान में जो मर्म-मधुर भावाकुलता व्यक्त हुई थी, उसका असर उनके मंजुल मानस पर अवश्य पड़ा था। किन्तु पूछ-ताछ के बाद जब रचयिता का पता चला, तब वह उल्लास उड़ गया—यह भी छिपा न रहा। 'तरुण' का नाम सुनते ही वह कुछ गंभीर हो गए—और, उस गंभीरता में उद्विग्नता उछलने लग गई—'अबतक सामने क्यों नहीं आया...!'

'तपोधन' के शुभागमन से मद्रास-नगर पुलक-प्रकम्पित हो रहा था। जन-जन बेचैन था उनकी एक झाँकी-झलक पाने को। भावुकों की भीड़ इतनी बढ़ती थी सभा-समाज में कि कभी-कभी उनकी जान का खतरा भी आ खड़ा होता था और उनके सेवक-रक्षक बेतरह घबरा उठते थे।

'तपोधन' के भाषण में वक्तृत्व-कला का कोई आकर्षण न था, फिर भी लोग उनके मुख से निकले एक-एक शब्द को अमृत की तरह पान करते थे—समझ में कुछ आए या न आए!

सब से बड़ा आकर्षण तो शाम की खुली प्रार्थना-सभा का था। लगता था—स्वर्ग ही उतर आया हो वहाँ उनके सामने। ताल और लय के साथ जब राम-नाम की धुन लगती—और, हजारों हाथ-मुँह उसे सोल्लास दुहरा देते; तब

सचमुच भक्ति का भूला स्वर्ण-युग कहीं से आकर चुपचाप वहाँ पुलकाकुल होने लग जाता था। उस समय 'तपोधन' गौरांग प्रभु चैतन्यदेव के अवतार ही जान पड़ते थे !

मद्रास की महिलाएँ शिक्षा, सजावट और सुरुचि के क्षेत्र में अग्रणी रहती आई हैं। उनकी शकल-सूरत में मैथिली या काश्मीरी आकर्षण भले ही न पाया जाए, किन्तु रेशमी वस्त्र और स्वर्ण-रत्नाभूषणों के कारण वे सचमुच सुरांगनाओं को भी मात करती दीखती हैं।

उस दिन 'तपोधन' उनकी एक भारी सभा में बोल रहे थे, और जब उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा—कि वह उनकी रेशमी साड़ियाँ और सोने की चूड़ियाँ देखने नहीं आए हैं; वह तो यह देखने आए हैं, कि उनकी आत्मा में सीता और सावित्री का कितना तेज और त्याग है ; तब सभा में सन्नाटा छा गया !

यह ललकार सुनते ही पुष्पालंकृता देवियों की वेणियाँ सहसा डोल उठीं, उनके स्वर्ण-वलय खनखना उठे—और, देखते-देखते उनके सुभग कण्ठों और कानों से रत्न हार तथा रत्नकुण्डल उतर-उतर कर हर्ष-विह्वल होते 'तपोधन' के पगतल पर यों अर्पित होने लग गए—कि उनके रक्षकों को गिनना-चुनना भी कठिन हो गया।

(पीछे यह भी सुना गया—कि 'तपोधन' के कुछ बगुला-भगत उसी स्वर्ण-बर्षा में भींग कर मालदार भी बन गए !)

'तपोधन' की उस सभा में अपने शिक्षक की प्रेरणा और 'बुद्धिमती' के प्रोत्साहन से सजधज कर 'आरती' भी शामिल हुई थी और उसने भी अपनी चूड़ियाँ और गले की सिकड़ी उतारी थी। साथ ही उसने अपने मन से एक ऐसी चीज उतार दी थी—जिसकी कल्पना न शिक्षक कर सका था, न उसकी 'बुद्धिमती' ही कुछ सोच सकी थी।

'आरती' के जीवन के सामने से जैसे एक कुहरा हट गया और एक ऐसे दिव्य प्रकाश के दर्शन हो गए—जिसके सामने जैसे संसार का सारा आकर्षण ही फीका पड़ गया हो। उसने किसी से कुछ कहा तो नहीं, परन्तु मन-ही-मन एक ऐसा निश्चय किया—जो आँखें मूँद कर अगाध सागर में कूदने के बराबर था।

सेठ और शठ को छोड़कर, धन और मन की ऐयाशी भूलकर, विचार और आचार का वैषम्य बिसार कर उसने परम निष्ठा से 'तपोधन' की सेवा में अपने को न्योछावर करने का दृढ़ संकल्प कर लिया—और,'आत्मीय' एवं 'बुद्धिमती' को लेकर प्रात: कालीन प्रार्थना में भी पहुँचने लगी।

उस समय की प्रार्थना में कम लोग आ पाते थे; क्योंकि, वह साढ़े तीन बजे के बाद ही शुरू हो जाती थी—और, बाहर वाले पहुँच नहीं पाते थे। 'तपोधन' के अपने आदमी और दस-पाँच पास-पड़ोस के अनुरागी ही उस ब्रह्म-वेला में उठकर आ पाते थे। इसी से 'तपोधन' की दृष्टि 'आरती' पर पड़ती थी—और, सहज ही उस निराली शकल-सूरत पर जाकर कुछ कुतूहलमयी हो उठती थी। 'आत्मीय' ने उन्हें यह बताया था कि 'आरती' उसकी बहन है, परन्तु जाने क्यों 'तपोधन' को उस सम्बन्ध पर विश्वास न हो सका था—और, उनकी जिज्ञासा बढ़ती ही जा रही थी। साथ ही 'आरती' की मुखाकृति से अन्तरात्मा की जो अमल आर्ति उनकी ओर दौड़ रही थी, उसके आकर्षण से भी वह कुछ अभिभूत होते जान पड़ते थे। सहज ही इधर-उधर से कुछ बातें भी उसके सम्बन्ध में उनके कानों में पड़ने लग गई थी।

धीरे-धीरे 'आत्मीय' और 'बुद्धिमती' को अपनी भूल मालूम होने लगी—और, दोनों अधिक चौकन्ने हो गए। उन्हें लगा—यह सम्बन्ध कहीं उन्हें 'तपोधन' की दृष्टि में शंकालु न बना दे; क्योंकि, उनके कान भरने वाले ईर्ष्यालुओं की कमी तो थी नहीं वहाँ!

एक दिन सायं-प्रार्थना के बाद 'तरुण' अपनी ड्यूटी बजा रहा था गेट पर—कि उसके एक मित्र ने आकर उससे कहा—'तपोधन तुम्हें बुला रहे हैं!'

'तरुण' चौंक उठा। अबतक वह उनके दृष्टि-पथ से दूर-दूर ही रहने का प्रयत्न करता आ रहा था—सेवक-दल में शामिल रहने पर भी समीप नहीं जा सका था—और, न जाना ही चाहता था।

इस लिए उसने कह दिया—'नहीं, मैं उनके पास नहीं जाऊँगा। जाकर कह दो—मुझे उनसे कुछ भी कहना नहीं है।'

मित्र अचरज में पड़ गया—बड़े-बड़े लोग जहाँ उनके पास पहुँचने के लिए

सिर मार रहे थे, वहाँ यह मूढ़ बुलाने पर भी जाना नहीं चाहता !

मित्र तो चला गया, लेकिन दूसरे ही क्षण आँख वाले डाक्टर को लेकर फिर लौट पड़ा। आते ही डाक्टर ने कहा :

'तपोधन जब बुला रहे हैं, तब न जाना किसी भी तरह संगत नहीं कहा जाएगा। आपको जाना ही होगा उनके सामने—हम आपको ले ही जाएँगे।'

'तरुण' ने उदास भाव से कहा—'तो चलिए—आप भी दूसरे पुलिस अफसर प्रतीत होते हैं, जेल से छुड़ाकर अब 'सेल' में डाल दीजिए।'

'तरुण' ने जाकर 'तपोधन' का चरण-स्पर्श किया और चुपचाप पद-प्रान्त में बैठ गया। तपोधन' भी कुछ क्षण चुपचाप उसकी गति-विधि पर दृष्टि गड़ाए रहे; फिर कुछ कुतूहल से पूछ बैठे :

'तुम्हें कुछ कहना है न मुझसे ?'

'जी नहीं—मुझे कुछ भी कहना नहीं है आप से।'

उसका सुस्थिर कण्ठ और अकम्प नेत्र देखकर 'तपोधन' कुछ गंभीर होकर बोले :

'तुमने कोई पत्र लिखा था न मुझे ?'

'जी हाँ, जल्दी में लिख दिया था—तब से पछता रहा हूँ।'

'क्यों—पछता क्यों रहे हो; पत्रोत्तर न मिला, इससे क्या ?'

'पत्रोत्तर न पाकर तो कुछ शान्ति भी थी। सोचा—संभवतः वह पत्र आप तक पहुँच न सका हो, अथवा आपका ध्यान उस पर न जा सका हो।'

'नहीं, मैं सारी बातें तुम्हारे मुँह से सुनना चाहता था—तुम निस्संकोच कह सकते हो।'

'आप राष्ट्र-पुरुष हैं, अनेक बड़े-बड़े प्रश्न दिन-रात आपके सामने आते रहते हैं। आपका एक-एक क्षण राष्ट्र का अमूल्य धन है। उसको मैं अपनी व्यक्तिगत तुच्छ बातों में बर्बाद नहीं करना चाहता। आप मुझे क्षमा कर दें—या जो सजा देना चाहें, सहर्ष प्रदान करें—मेरा सिर आपके चरणों में नत है। परन्तु उस पत्र के बारे में अब मुझसे कुछ न पूछें !'

कहकर सचमुच 'तरुण' ने अपना सिर रख दिया उनके पाद-पद्मों पर।

'तपोधन' की मुद्रा कुछ पुलकित थी। उन्होंने अपने कोमल हाथों से उसके सिर को छूकर कहा :

'जब एक बार तुम हाथ काट चुके हो, तब तो उसका खुलासा करना ही होगा।'

उनकी दृढ़ता से 'तरुण' दहल उठा और ससंकोच बोला।

'आप तो उसके मुख से सब कुछ सुन ही चुके हैं—अब तो केवल सजा सुनाना ही रह गया है आपके लिए; और, यह अपराधी उसके लिए सर्वथा नत-मस्तक है।'

'नहीं, तुमको जो कहना है, कहो—मुझे सुनना है।'

'लेकिन आपके पास समय कहाँ है उसके लिए !'

'कितना समय चाहते हो—आधा घंटा ?'

'कम-से कम एक घंटा—और बिलकुल एकान्त।'

सुनते ही 'तपोधन' ने एकत्रित जन-समूह की ओर गूढ़ भाव से देखा—और, क्षणान्तर में वह कमरा खाली हो गया। 'तरुण' को छोड़कर तीसरा कोई न रहा वहाँ—और, कमरे का दरवाजा भी बन्द हो गया।

'तरुण' ने 'रमा' को बेदाग बचाते हुए संक्षेप में सब कुछ सुना दिया—जिसे पाठक अबतक सुनते आ रहे थे। और, जब एक से डेढ़ घंटे का समय हो गया, तब 'तरुण' ने ही चरण छूकर कहा :

'समय का अतिक्रमण हो गया है—कृपाकर मेरी धृष्टता माफ कर दें।'

'तपोधन' ने सब कुछ धैर्य के साथ ही सुना था, परन्तु अन्त में बोले कुछ रूखे स्वर में ही :

'जो भी हो, तुम्हें वह 'कुटिया' छोड़नी ही होगी।'

'उसके लिए तो जेल का फाटक खुल ही गया है।'

'क्या कहोगे सफाई में ?'

'मिनिया को बचाने का प्रयत्न करूँगा।'

'झूठ बोलकर ?'

'उचित तो यही जँचता है।'

'नहीं, तुम को मौन रह जाना है—हाँ-ना कुछ भी नहीं कहना है, अदालत को जो न्याय-संगत जँचे, करे।'

'तब तो वह बेचारी बेगुनाह जेल में सड़ जाएगी—यह मैं कैसे सह सकूँगा ?'

'तो क्या झूठ बोलकर खुद चोर बन जाओगे ?'

'सही तो वही जान पड़ता है—जिस भोले हृदय ने हमारे लिए यह खतरा उठाया है, उसे यों सड़ने देना क्या मानवता मंजूर करेगी ?'

'तपोधन' चुप हो गए। लगा—उनका अन्तर पुलकित होकर जैसे डोल रहा हो। कुछ क्षण बाद सहसा उन्होंने एक अकल्पित ही प्रश्न कर दिया :

'अच्छा, तुम कितने भाई-बहन हो अपने ?'

'तरुण' अचानक विस्मित हो उठा—ऐसा असंगत प्रश्न क्यों ?...लेकिन जवाब देना जरूरी था—सो भी तुरत। इस लिए उसने दबी जबान कहा :

'सहोदर के विचार से अभी मैं अकेला हूँ—दो बहनें बहुत पहले स्वर्ग वासिनी बन गई थीं, एक छोटा भाई था, वह भी कुछ दिन पूर्व संसार से बिदा हो चुका है। परन्तु परिवार का एक व्यक्ति है—जिसे मैं अपना सहोदर ही मानता हूँ।'

'और, यह 'आरती' कौन है—क्या तुम्हारे परिवार की नहीं है ?'

'नहीं, उसके सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं है मुझे !'

'अच्छा, अभी तुम्हें मेरे ही पास रहना है।'

'जो आज्ञा'—कहकर नत-सिर 'तरुण' बाहर निकल आया।

बाहर आते ही मित्र-मण्डली ने 'तरुण' को घर लिया—और, नाना तरह के प्रश्नों की झड़ी लग गई। उस मण्डली में डाक्टर के साथ 'आत्मीय' भी मौजूद था।

सब के प्रश्नों का एक ही उत्तर दिया गंभीर 'तरुण' ने—'कहने लायक कुछ भी नहीं है।' लोगों ने बहुत हिलाया-डुलाया, परन्तु वह अपनी बात पर अटल रह गया।

आखिर मित्रों ने उसे छोड़ा, परन्तु डाक्टर और 'आत्मीय' तब भी बैठे

रह गए। धीरे से 'आत्मीय' ने पूछा :

'मेरे बारे में भी कुछ पूछ-ताछ हुई थी ?'

'हाँ—एक-दो बात।'

' 'आरती' के बारे में भी ?'

'हाँ, उसके बारे में भी—लेकिन मैं तो कुछ जानता नहीं था, इस लिए नकारात्मक ही उत्तर दिया।'

'आत्मीय' का मुँह उतर गया—और, वह तत्काल उठकर चलता बना। 'तरुण' अचरज से उसकी ओर देखता रह गया।

एकान्त पाकर डाक्टर ने पूछा :

'मिनिया के बारे में क्या किया जाए ? पुलिस मार-पीटकर थक गई—वह अपना बयान नहीं बदल रही है।'

'जान दे देगी, पर वह बात नहीं बदलेगी—मैं उसे खूब जानता हूँ।'

'तब...?'

'तब क्या—मुझे तो हर हालत में उसको बेदाग बचाना है। पुलिस ने सन्दूकची मेरे पास से बरामद की है—उसके पास से नहीं। उसकी सारी जिम्मेवारी मुझ पर है। अदालत को जो दण्ड देना है, मुझे दे। मिनिया को मैं पागल साबित करूँगा।'

आँख वाला डाक्टर घोर संकट में पड़ गया। उसका वह डाक्टर-मित्र जो चाहता था, 'तरुण' उसी पर उतारू दीखता था; किन्तु वह खुद इसके लिए तैयार न था। आया था पहले अपने मित्र का पक्ष लेकर, लेकिन जब सत्य का पता उसे चल गया, तब वह मित्र से हटकर 'तरुण' का तरफदार हो गया था। दरअसल चोरी तो किसी ने की थी नहीं, पर कानून के सामने तो चोरी का 'केस' था—और, वह चोरी साबित भी हो रही थी; क्योंकि मिनिया अपना अपराध स्वीकार कर रही थी !

विकट उलझन खड़ी हो गई थी इस नेत्र-चिकित्सक के सामने। और उधर उसके मित्र तथा 'रमा' के घर वालों की पूरी तैयारी थी—कि 'तरुण' सज़ा पा जाए। 'तरुण' का यह रुख नेत्र-चिकित्सक के लिए भारी सिर-दर्द

बन गया था।

एक ही उपाय था, लेकिन वह असंभव दीखता था—कौन उससे कहने जाएगा, जब वह यों कड़ी निगरानी में है?...लेकिन तब तो सत्य की हत्या होगी—और, उसकी जानकारी में होगी!...कैसे बर्दाश्त करेगा वह?...किन्तु ऐसी हत्या क्या यह अकेली हो रही है—क्या आए-दिन ऐसी हजारों हत्याएँ नहीं हो रही है; और, वह देखकर भी घी की मक्खी नहीं निगल रहा है?...

उधर मिनिया अड़ी थी अपनी बात पर—'सन्दूकची मैंने चुराई है!'—इधर 'तरुण' कहने जा रहा था—'असली चोर मैं हूँ—'मिनिया' पागल है!'

—०—

कोर्ट के कठघरे में

जब कई दिन बीत गए और 'मिनिया' नहीं लौटी, तब 'रमा' चिन्ता से चंचल हो उठी। किससे कुछ पूछ-ताछ करे—उसका बाप भी जाने कहाँ लापता हो गया था। डाक्टर और नागम्मा की निगरानी इतनी बढ़ गई थी—कि वह अपने घर में ही बन्दी बन गई थी।

डाक जो आती थी, पहले पिता के पास पहुँचती थी—तभी वह देख पाती थी। सखी-सहेली के पत्र भी सीधे उसे नहीं मिल पाते थे।

एक ओर ऐसी कड़ाई की जाती थी और दूसरी ओर विनम्रता, आदर और सत्कार की कोई सीमा न थी। दोनों छोर पर बैठी 'रमा' मिनिया के बारे में सशंक हो उठी। यद्यपि उसने बड़ी सावधानी बरती थी सन्दूकची भेजने में, फिर भी नागम्मा के नेत्रों से कुछ छिपा नहीं रहा—अब इसकी प्रतीति 'रमा' को होने लगी। 'मिनिया' 'वरुण' के पास पहुँची या नहीं, पहुँची तो फिर लौटी क्यों नहीं ?...क्या बीच में ही कहीं भटक गई—कौन जाने क्या हो गया उसे !...सब से अचरज तो यह था कि उसका बाप कहाँ चला गया—वह क्यों नहीं आया ?...बाप को कोई भले ही बहका सकता है, पर बेटी तो कट जाएगी, लेकिन किसी भी हालत में झुकेगी नहीं कहीं—'रमा' को इसका अटल विश्वास था।

एकाएक उसके मन में बिजली की तरह एक बात चमक गई—क्यों नहीं चोर को ही वह कोतवाल बना दे ?...आखिर वह नारी है, युवती है—और है रूप-गर्विता। फिर क्यों न नकेल घुमा दे उलटी दिशा में—और, फिर देखे इन मयूरों का मनोहर नृत्य !

यह विचार मन में आते ही 'रमा' के रोम-रोम में नई स्फूर्ति आ गई—और, हर्षित होती वह अपनी मोहिनी शक्ति को तौलने लगी।

नारी—और, रूपवती नारी—क्या नहीं कर सकती है ! अगर वह संकल्प करे और अपनी शक्ति को पहचान कर तदनुकूल प्रयत्न करे, तो नई सृष्टि रचने वाले का दंभ तोड़कर उसकी तपो-पूत रक्त-मज्जा से सैकड़ों 'शकुन्तला' पैदा कर सकती है, राज-सिंहासन छुड़ाकर दशरथ-नन्दन को वन-वन भटका सकती है, नारद बाबा का कभी न रुकने वाला हरि-कीर्तन बन्द करके मर्कट की तरह उन्हें अपनी उँगलियों पर नचा सकती है, महायोगेश्वर शंकर की महासमाधि को भी तोड़कर उनके लोचनों में रूपाकर्षण की चंचलता भर सकती है—फिर काम के इन चेरों की बिसात ही क्या !

बस, 'रमा' ने अपनी दृष्टि बदल दी घर वालों के सामने। नागम्मा ने देखा उसका वह उत्फुल्ल लोचन—और, वह जैसे सपनों से जग पड़ी; अम्मा ने देखी वह भोली सूरत—और, उसकी आँखों में जाने कैसे आँसू निकल आए, पिता ने सुना—और, वह पुलकित हो उठे, उधर डाक्टर ने वह इन्द्रधनुष देखा—और, वह नाच उठा अपनी सफलता के गर्वातिरेक से !

घर-बाहर खुशी का बाजार गर्म हो रहा था 'रमा' के इस बदले रुख पर। खुशी अगर कहीं न थी तो घर की एक उस बूढ़ी के मन में और दूसरी उस चंचल बालक के नयनों में—जो जाने क्यों 'रमा' के उस रुख से कुछ खिन्न कुछ चिर-चिरे और कुछ चपल दीखने लग गए थे। बूढ़ी माँ थी—जिसकी ममता को सीमा मापी नहीं सकती थी; पर, जैसे ही उसने 'रमा' को डाक्टर से हँसते बोलते देखा, उसकी पलकें झुक गई और मन मुरझा गया—जैसे उसके सामने का कोई गर्व-तरु टूट गया हो। 'तरुण' के प्रति उसका ममत्व इतना सहज घनत्व रूप ले चुका था—कि 'रमा' के साथ का उसका साहचर्य उसे जरा भी खलता नहीं था, बल्कि बड़ा ही प्यारा लग रहा था। और, जब उसके साथ शादी की बात उसके कानों में पड़ी, तब उसका मन तो भड़क उठा जरूर, किन्तु जाने क्यों आत्मा आनन्दित होने लगी।

और वह बालक—अरे, 'तरुण' को देखते ही वह कैसा उछल पडता था, किन्तु यह डाक्टर जाने क्यों उसे फूटी नजर नहीं भा रहा था। जब तक 'रमा' का रुख नहीं बदला था डाक्टर के प्रति, तब तक वह उसके पास जाकर खेलता-

मचलता था, लेकिन जब से वह डाक्टर को अपने पास बिठाने लगी—बालक पागल-सा बकने-झकने, घूर-घूर कर दौड़ने-भागने और बुलाने पर भी पास जाने को तैयार न हो पाता था। डाक्टर जब जबर्दस्ती उसको पकड़ लेता था; तब वह ऐसी धूम मचा देता था, डाक्टर को इस तरह नोच-बकोट लेता था—कि लोग आश्चर्य में पड़ जाते थे! 'पिन्नी'—जो उसकी इतनी प्यारी थी, अब वह उसकी नजरों में जाने क्यों खटकने लग गई थी।

'रमा' बूढ़ी और बालक के इस अन्तर्भाव को देखकर अन्दर-ही-अन्दर कितनी चंचल होती थी, यह तो शायद अन्तर्यामी भी नहीं बता सकता था। परन्तु नागम्मा संकुचित जरूर होती जा रही थी—संभवतः उसको अपनी आँखों पर विश्वास न हो रहा था।

'रमा' इस आशा में थी—कि अब उसे 'मिनिया' का रहस्य मालूम हो जाएगा। नागम्मा न कहे कुछ, किन्तु उसका डाक्टर तो बता ही देगा। लेकिन डाक्टर नागम्मा की मुट्ठी में था—और, कुछ कहने का साहस नहीं कर रहा था। साथ ही डर भी था कि कहीं 'रमा' का रुख फिर बदल न जाए। कोई उस बात को उठाना ही नहीं चाहता था—यद्यपि सब के मन को वही बात मथ रही थी। बिलकुल अस्वाभाविक स्थिति से लोग गुजर रहे थे।

'मिनिया'—जो उस घर-आँगन में रात-दिन दौड़ती रहती थी, आज कई दिन से गायब है—और कोई उसकी चर्चा भी नहीं करता था खुलकर! बालक सबका मुँह जोहता था—कोई उसका नाम ले, मगर वह निराश लौट जाता था बूढ़ी के पास। बूढ़ी के कानों में नागम्मा ने कुछ डाला था, परन्तु उस पर उसका विश्वास नहीं जम रहा था।

एक दिन 'रमा' पूजा घर में बैठी कुछ पाठ कर रही थी। मौका देख कर बूढ़ी भी आ पहुँची और, दरवाजा बन्द करके, पहले उसने देवता के आगे सिर झुकाया, फिर बेटी की ठोड़ी पकड़ कर वह बोली :

'यह डाक्टर तुमको पसन्द है?'

'पिताजी को तो बहुत पसन्द है।'

'मैं पिता की बात नहीं पछती—तुम्हारे मन की बात पछती हूँ।'

'मन तो चाहता है और कहता भी है—पसन्द कर लो, खूब खुश रहोगी; उसके पास क्या नहीं है !...'

बूढ़ी बेटी का मुँह देखती रह गई—जैसे गहराई में डूबकर उसे पहचान रही हो। 'गिरि' को वह दृष्टि चुभने लगी और वह अकुलाकर बोली :

'यों क्यों देख रही हो, अम्माँ—क्या तुम्हें पसन्द नहीं है ?'

'मुझसे क्या पूछती हो—मैं कौन होती हूँ ? असल तो वह है—जिसकी धरोहर की धाय मात्र हूँ मैं। उस मूल को पसन्द है और तुम्हारा मन भी मानता है—फिर एक धाय भला क्या बोले इसमें ?'

'बेटी तो माँ को ही जानती-मानती है। तुम अपनी बात कहो न—क्या चाहती हो ?'

'अपनी बात कहने के पहले मैं तुम से एक बात पूछना चाहती हूँ। तुम मेरी तरह मूढ़ नहीं हो, पिता ने तुम्हें नई शिक्षा दी है। मानती हूँ—वह शादी तुम्हारे मन से नहीं हुई थी, परन्तु एक बात तुमको याद है ?'

'क्या—कौन बात ?'

'एक दिन जब तुम नहाकर आईने के सामने बाल झाड़ रही थी, तब किसने तुम्हारे ललाट में लाल बिन्दी लगा दी थी ?'

'रमा' चुप रह गई—मन-ही-मन मुसकुराती हुई माँ के मन की थाह लेने लगी। थोड़ी देर दोनों एक-दूसरे के मर्म को पढ़ने का प्रयास करती रहीं। फिर माँ ही बोली :

'गिरि, मैं नादान ही सही, पर इतना तो जरूर जानती हूँ—कि जिसने वह लाल बिन्दी तुम्हारे सूने भाल में लगाई थी, वह तुम्हारे तन-मन का चिर-संगी है ! उसमें तुम्हारे प्राण बसते हैं और तुम में उसके प्राण रमते हैं। यह लीला मैं बहुत दिनों से देखती आई हूँ। तुमने जिस प्रकार उस पर हुकूमत की थी, यह भी मुझसे छिपी न थी। इसी से मैं...'

'रमा' ने घबराकर माँ के मुँह पर हाथ रख दिया—और, बहुत धीरे से कहा:

बनी रही, सो तो कह—भोली माँ मेरी ?'

'इसके पहले तू अपनी इस मूढ़ माँ को जान ले।···मैंने भी तेरे फटेहाल बाप को कभी इसी तरह पकड़ा था। जवानी आ रही थी—और, वर ढूँढ़ने वाला खुद मुझ पर नजर गड़ाए हुए था। मेरा यह मूढ़ मन मगर राजी न था उसके साथ गँठ-बन्धन करने को—यद्यपि तेरे नाना-नानी का जोर-जुल्म हो रहा था मुझ पर उसके लिए। तेरा यह बाप उस समय 'वार' (सप्ताह में एक वार) खाने आया करता था और मुझे भी दो-चार अक्षर पढ़ा देता था। मेरा मन मान गया और मैंने अपने मन की बात उससे कह दी। वह काँप उठा, लेकिन मैं उसको पकड़े रह गई।···मैं समझती थी—तू भी अपने मन-चोते को पकड़े रहेगी।...लेकिन···'

'लेकिन वह फटेहाल जो है, माँ—पिताजी की नाक न कट जाएगी भला!'

'पहले अपनी नाक तो तू बचा, तब दूसरे की नाक की फिक्र करना। सच बता—क्या तेरी आत्मा इसको पसन्द करती है ?'

'आत्मा कहाँ दीख पड़ती है, माँ—सब जगह तो मन का ही बोल-बाला है; और, मन को चाहिए मोटर, महल और महफिल—जिसके बिना 'मनोरंजन' हो नहीं सकता है आज किसी का।'

'तब तू मेरी बेटी नहीं है—बाप की बेटी है। मैंने मन को नहीं, आत्मा को पकड़ा था। 'मनोरंजन' तो मेरा मामा मेरा खूब करता; क्योंकि, धन-दौलत की कमी थी नहीं उसके पास।...और; बेटी, औरत काठ की हाँड़ी होती है, जो केवल एक बार चढ़ती है आग पर। जिसको तू ने इतना कसकर पकड़ा था, उसे मोटर-महल के नाम पर छोड़ देगी ? तो फिर कोठे पर ही क्यों नहीं चली जाती...'

कहकर करैले-सा मुँह बनाए बूढ़ी निकल गई पूजा-गृह से—और, 'रमा' की आँखों में गर्व और उल्लास नाचता रह गया।

'रमा' जब पूजा-गृह से निकली, तो लगा—उसके पैर धरती पर नहीं पड़ रहे हैं। उसकी आँखों की ज्योति भी बदली हुई जान पड़ी—जैसे वह किसी को

पहचान नहीं रही हो। नागम्मा सामने आई—और, 'रमा' उसमें टकरा गई। बालक सामने आया, परन्तु उसे किसी ने गोद में नहीं उठाया—बेचारा भौंचक देखता रह गया। डाक्टर दालान से दौड़ा आया कुछ कहने, लेकिन 'रमा' ने उसकी ओर देखा तक नहीं। वह सीधी बढ़ती गई और पिता के कक्ष में आकर खड़ी हो गई।

पिता मेज पर कुछ कागज-पत्र देख रहे थे। सिर उठाकर देखा, तो 'गिरि' सामने शून्य-सी खड़ी थी। देखते ही वह चौंके और धड़फड़ा कर उठ खड़े हुए। उनके रोम-रोम पूछ रहे थे—यों क्यों देख रही है आज—सो भी पहली बार ?...

उधर डाक्टर ने आकर खबर दी—नेत्र-चिकित्सक मिलने आए हैं। पिता और घबरा उठे।

इतने में आँख वाला डाक्टर कक्ष में घुसा और पिता को प्रणाम करके सामने कुर्सी पर बैठ गया। 'रमा' को यों खड़ी देखकर चिकित्सक चकित था।

पिता जबतक कुछ पूछे-पूछे, 'रमा' ही निधड़क बोल उठी :

'डाक्टर साहब, 'मिनिया' को मैंने आपके पास भेजा था इलाज के लिए। कई दिन हो गए, अबतक वह लौटी नहीं—न कोई समाचार ही मिला उसका। कृपया बताइए,—आप के पास वह पहुँची या नहीं ?'

तबतक नागम्मा भी कक्ष में आ पहुँची थी। सबके मुँह पर हवाइयाँ उड़ने लगीं और सब नेत्र-चिकित्सक को आकुलता से देखने लग गए।

पिता कुछ कहना चाहता था, किन्तु 'रमा' यों देख रही थी—कि कोई कुछ न कह सका। नेत्र-चिकित्सक पहले से ही अस्थिर दीख रहा था—'रमा' के प्रश्न ने तो उसकी बोलती ही बन्द कर दी ! फिर भी अपने को सम्हाल कर ही वह बोला :

'मिनिया मेरे पास तो नहीं पहुँची, मगर उसका बाप पहुँचा—और, मैं खुद जाकर उसे देख आया। आँख में कोई खराबी तो मुझे नहीं दीख पड़ी, परन्तु...'

नेत्र-चिकित्सक ने कहने-कहते अपने मित्र-डाक्टर का मर्माहत मुखड़ा

देखा— और, वह एकाएक चुप हो गया। उसको यों चुप होते देखकर 'गिरि' तुरत बोल उठी :

'चुप क्यों हो गए, डाक्टर साहब— कहिए न, 'परन्तु' क्या ?'

डाक्टर का लुढ़कता मन इस ललकार से सहसा सुस्थिर हो गया —और, वह 'गिरि' की ओर देख कर कहने लगा :

'परन्तु पुलिस ने उसको पकड़ लिया— वह अभी जेल में है।'

सुनते ही सबका सिर नीचा हो गया, किन्तु 'गिरि' पर तो जैसे गाज ही गिरी—उसने एकदम चीख़ कर पूछा :

'जेल में— जेल में क्यों है वह?'

'चोरी के अपराध में—उसने सन्दूकची जो चुराई है आप की।'

'चोरी...?'

कहकर 'गिरि' ने एक-एक करके पिता, नागम्मा, और डाक्टर की ओर दृष्टि दौड़ाई— और, सबकी पलकें झुकी देखकर वह स्तंभित रह गई। फिर उसने प्रश्न किया :

'पुलिस को यह सूचना किसने दी—डाक्टर साहब ?'

डाक्टर अपने मित्र का मुँह देखकर फिर चुप हो गया—जानकर भी जवाब न दे सका।

ममता मस्त मनुष्य को भी कितना पस्त कर देती है—गुनती हुई 'गिरि' कक्ष से धीरे-धीरे निकल गई।

'गिरि' के जाते ही नेत्र-चिकित्सक की आँखों में काँटा चुभ गया। जो वह कहने आया था, वह तो कह न सका— और, वह चली भी गई! गथहारे की तरह वह सबों का मुँह देखता रह गया!

बड़ी देर के बाद जब आँख वाला वह डाक्टर घर से जाने लगा, तब अचानक 'गिरि' ने आकर उसको प्रणाम किया और बड़ी शालीनता से कहा :

'आप सत्य के पुजारी हैं और खूब जानते हैं—कि 'मिनिया' ने कोई चोरी नहीं की है। इस लिए जेल से छुड़ाने का प्रबन्ध कीजिए—मैं गवाही देने

को तैयार हूँ।'

'लेकिन 'मिनिया' तो चोरी स्वीकार करती है!'

'वह पागल है। चीज तो मेरी है; मैं जब कहूँगी--कि उसने मेरी चीज नहीं चुराई है, तब अदालत क्या करेगी?'

-तब वह दूसरे को जेल देगी—वह भी तो यही कहता है!'

'कौन---क्या कहता है?'

'तरुण भी तो यही कहते हैं---कि 'मिनिया' ने चोरी नहीं की है...'

'कृपाकर और किसी की बात मत कहिए मुझसे। मुझे तो 'मिनिया' को छुड़ाना है। आप मेरा नाम गवाह में दर्ज करवा दीजिए---मेरी आरजू इतना ही आपसे।'

आँख वाला डाक्टर जब चला गया, तब दिवान्धों की मीटिंग बैठी—विचारणीय विषय था---अब क्या किया जाए?

उमीदवार ने कहा:

'मिनिया को तो छुड़ाना है ही---और, जब वह स्वीकार कर ही रहा है, तब तो कोई दिक्कत होगी ही नहीं।'

नागम्मा ने उमीदवार की ओर देखकर कहा:

'पहले तुम तो इसका विश्वास-पात्र बनो---कहीं ऐन मौके पर यही धोखा न दे दे सब को।'

पिता ने कुछ गमगीन होकर कहा:

'जब वह स्वीकार करता है, तब तो केस मजबूत ही हो जाएगा। डर है मुझे 'तपोधन' का---कहीं बीच में उनका हाथ न उठ जाए!'

नागम्मा ने पिता की ओर देखकर कहा:

'मुझे तो इसी का डर है—आज की मुद्रा तो और भी समझ में नहीं आ रही है। ऐसे मौके पर न जाने यह आँख वाला कहाँ से आ गया। मैं समझता था—मित्र के नाते मेरी मदद करेगा, पर यह तो एक नम्बर का विषखोपरा निकला!'

पिता ने कहा;

'चाहता तो था कुछ करना, परन्तु 'गिरि' की ललकार ने उसकी घुटक तोड़ दी—और, वह लड़खड़ाते-लड़खड़ाते भी बच गया। अब तुम अपने भाग्य की परीक्षा करो। अगर वह जेल चला गया दो-तीन वर्ष के लिए भी, तब 'गिरि' उसे भूल जाएगी। लेकिन कोर्ट में उसे देखकर इसकी क्या हालत होगी—यह कौन कहे! किसी भी तरह यह अदालत में न जाती, तब मुझे चैन होता।'

उमीदवार बोला :

'न जाने से तो 'मिनिया' का छूटना संभव नहीं दीखता है।'

पिता ने सशंक होकर कहा :

'और—जाने से कहीं चिड़िया ही न उड़ जाए।'

नागम्मा ने सिर डुलाकर इसका समर्थन किया :

'मुझे भी यही डर है—सचमुच वह जादू जानता है!'

कोर्ट आज खचाखच भरा था दर्शकों से। कठघरे में 'मिनिया' और 'तरुण' खड़े थे। आँख वाले डाक्टर ने 'तरुण' के लिए भी वकील ठीक किया था; परन्तु 'तरुण' ने उसे मंजूर नहीं किया। उसे जो कुछ कहना होगा, वह असालतन कहेगा। 'मिनिया' के लिए एक जबर्दस्त वकील बहस कर रहा था—जिसका सारांश यही था कि 'मिनिया' पागल है और उसके पागलपन का कारण है यह लफंगा 'तरुण'। न्यायाधीश ने 'तरुण' से पूछा :

'यह सन्दूकची आपके यहाँ से बरामद हुई थी?'

'जी हाँ।'

'आपके पास कैसे पहुँची यह?'

'यह मेरा काम नहीं—मैं इतना ही कहूँगा कि पुलिस ने यह सन्दूकची मेरे पास से ली है। इसकी सारी जिम्मेवारी मुझ पर है—किसी दूसरे पर नहीं। अदालत इसके लिए जो सजा देना चाहे, मुझे दे—और 'मिनिया' को मुक्त कर दे; क्योंकि, वह बेगुनाह है। कुछ-कुछ पागल भी है—जो धुन पकड़ लेती है, बोलती चली जाती है। अतः उसकी बातों का कोई महत्त्व न दिया जाए।'

उधर जब न्यायाधीश ने 'मिनिया' से पूछा, तब उसने अपने वकील के विरुद्ध बड़ी दृढ़ता से कहा :

'यह सन्दूकची मैंने चुराई है और यह मेरे ही पास थी—पुलिस ने मेरे पास से ही इसे बरामद किया है। दूसरे का इसमें कोई हाथ नहीं है। वह केवल मुझे बचाने के लिए यह अपराध अपने ऊपर ले रहा है। अतः अदालत उसकी बात पर कोई ध्यान न दे।'

कोर्ट भारी चक्कर में पड़ गया—असली चोर कौन है ?

इतने में गवाह की पुकार हुई और गिरिनन्दिनी कठघरे में जा खड़ी हुई। पहले तो वह कुछ क्षण सिर झुकाए रही, परन्तु जब न्यायाधीश ने उससे पूछ-ताछ शुरू की, तब उसने नजर उठाकर सब ओर देखा। सब की दृष्टि उसके ऊपर थी, परन्तु 'तरुण' मिनिया को देख रहा था।

'क्या यह सन्दूकची आप पहचानती हैं ?'

'हाँ, मेरी है।'

'इसमें क्या-क्या है ?'

'कुछ गहने हैं मेरे।'

'फिहरिस्त है आपके पास ?'

'है—लीजिए।'

गिरिनन्दिनी ने सूची आगे बढ़ा दी।

'यह सन्दूकची कब चोरी हुई ?'

'चोरी तो कभी नहीं हुई।'

वकील लाख हिलाता-डुलाता रह गया, परन्तु वह अपनी बात पर अड़ी रह गई। तब न्यायाधीश ने प्रश्न किया :

'चोरी न हुई, तो पुलिस के हाथ कैसे पहुँची ?'

'वह तो पुलिस जाने, मगर मैंने 'मिनिया' के हाथों इसे 'तरुण' के पास भेजा था—किसी खास मतलब से।'

'मतलब क्या था आपका ?'

'वह मेरी व्यक्तिगत बात है—कोर्ट का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं इतना ही कहना चाहती हूँ—कि पुलिस ने व्यर्थ ही इसके बारे में बेगुनाहों को जलील किया है। मेरा आप से निवेदन है—कि पुलिस को तंबीह करके बेगु-

नाहों को छोड़ दिया जाए और सन्दूकची उसे वापस कर दी जाए।'

'यह चिट्ठी आपने लिखी है ?'

'हाँ, मैंने लिखी है।'

'इसमें क्या है ?'

'व्यक्तिगत बातें—कोर्ट को इससे कोई मतलब नहीं।'

'अगर इसमें कोई खतरनाक बात हो ?'

'अदालत अपना शक दूर कर ले—कागज उसके पास है।'

इतने में 'तरुण' ने न्यायाधीश से प्रार्थना की :

'आज्ञा हो, तो मैं भी कुछ पूछूँ गवाह से ?'

न्यायाधीश ने तो 'हाँ' कर दिया, परन्तु गिरिनन्दिनी बोल उठी :

'मैं किसी की बात का जवाब देने को मजबूर नहीं की जा सकती। मैं कोर्ट में आई हूँ, कोर्ट जो पूछना चाहे, पूछ ले।'

न्यायाधीश ने तुरत फैसला सुना दिया :

'मुक़दमा झूठा है—अतः खारिज किया जाता है। प्रतिवादी चाहे तो वादी पर मान-हानि का दावा कर सकता है। सन्दूकची मुद्दालेह को दी जाती है और पुलिस को चेतावनी दी जाती है कि आगे से ऐसे झूठ-फरेब के मुकदमे अदालत में न लाए।'

'तरुण' चिल्ला उठा :

'हुजूर, सन्दूकची गवाह को ही दे दी जाए, मगर वह पत्र मेहरबानी करके मुझे लौटा दिया जाए।'

न्यायाधीश ने अपने फैसले में यह भी जोड़ दिया, किन्तु जब तक वह फैसला सुनाए-सुनाए—गवाह कठघरे से उतरकर जाने कहाँ गायब हो गई।

आँख-वाला डाक्टर विस्मित था गिरिनन्दिनी की गति-विधि पर।

मिनिया मुक्त हुई और 'तरुण' के पास आ खड़ी हुई। सन्दूकची भी उसी के हाथ में थी। दोनों को लेकर नेत्र-चिकित्सक 'तरुण' की कुटिया में आया, लेकिन कुटिया के बदले वहाँ एक आलीशान इमारत खड़ी हो रही थी। पूछ-ताछ से पता चला—कि 'तरुण' के जाते ही कुटिया में जाने कैसे आग लग गई और देखते-देखते वह जलकर खाक हो गई। फिर जमीन के मालिक ने जाने क्यों तुरत वह जमीन एक सेठ के हाथ बेच दी। वही सेठ वहाँ भव्य भवन बनवा रहा था।

नेत्र-चिकित्सक बड़ी देरतक उस नई सृष्टि को देखता रह गया—कुछ विस्मय और कुछ विषाद के साथ !

कुटिया के बदले इमारत बन रही थी—यह उस धरती का सौभाग्य था, पर डाक्टर जाने क्यों उस सौभाग्य से उल्लसित होने के बजाय मर्माहत ही अधिक होता जा रहा था।

और 'मिनिया' का तो घोसला ही उजड़-सा गया था—जिस अगम्य भाव से वह उस बन-रहे महल को देख रही थी, उसका पता भला कौन लगाए ?...

लेकिन 'तरुण' यह सब देखकर हलका हो गया। अच्छा हुआ—कुटिया का नामों-निशान मिट गया—उसकी प्यास भी मिट गई। अदालत में 'रमा' का रुख कड़ा था, मगर जिस दृढ़ता से उसने छल-छम्द के जाल को काटकर सब को बेगुनाह साबित कर दिया—क्या उसमें 'तरुण' के प्रति तिरस्कार की भावना कहीं पाई जाती थी ? डाक्टर इसी उधेड़-बुन में पड़ा था—कि महल के एक मुन्शी ने एक लिफाफा लाकर उसके हाथों में रख दिया। डाक्टर ने पता देखा—और, उसने वह लिफाफा 'तरुण' की ओर बढ़ा दिया।

पत्र 'अण्णा' का था—और, वह कह रहा था :

'प्रिय 'तरुण',

पत्र पहुँचते-पहुँचते मैं जेल के सीखचों में बन्द रहूँगा। उस शराबी ने अपहरण का मुकदमा दायर कर दिया और वारंट निकल चुका है। शिशु पर भी उसीका दावा है। समझौते के लिए तैयार है, परन्तु रुपया इतना चाहता है—जो मैं दे नहीं सकता। इस लिए जेल जा रहा हूँ। नहीं जानता—कितनी लंबी सजा होती है। सजा

से नहीं डरता, लेकिन अब इन अनाथों का ठौर कहाँ होगा ? सजा सुनाने तक तो 'अंबुजा' कहीं जाएगी नहीं, मगर उसके बाद तुम्हारी कुटिया ही उसकी शरण होगी। कहती है—'मैं 'तरुण' पर भार नहीं बनूँगी—मुझे केवल सुरक्षा चाहिए।'

अन्यत्र जाना भी नहीं चाहती है। आशा है, समय पर तुम्हारा पत्र इसे मिल जाएगा पुराने पते पर।

तुम्हारा ही'

पुनश्च :

'तरुण' एक बात तुम तक जरूर पहुँच गई होगी—तुम्हारा 'आत्मीय' और उसकी 'बुद्धिमती' दोनों अभी हिरासत में हैं। 'आरती' के पति ने किसी बड़े व्यक्ति-विशेष के संकेत पर कई हजार की ठगी का केस दायर कर दिया है—जिसमें गहने, कपड़े और नकद भी शामिल है। साथ ही चरित्र पर भी आक्षेप कर दिया है।

लेकिन सन्तोष की बात यही है—कि 'आरती' सेठ से बगावत करके उनकी पीठ पर खड़ी हो गई है। निश्चय ही सेठ उसे भी राह की भिखारिन बना देगा। यों, 'तरुण', हम फटेहालों की संख्या बढ़ेगी—और, हम लोग मिलकर क्रान्ति की ऐसी ज्वाला जगा देंगे—जिससे यह सड़ा-गला समाज जल कर खाक में मिल जाएगा और जो बचा रहेगा, वही विश्व-मानव को जन्म देगा।—वह विश्व-मानव मानव-मात्र का प्रतीक होगा—मानव-मात्र का प्रतिनिधित्व करेगा, जो देश, काल, जाति, धर्म, कुल-गोत और रंग से परे होगा। 'अंबुजा' उसी की साधना-आराधना कर रही है। अब 'आरती' भी उस दल में आ मिलेगी। किन्तु तुम्हारा 'आत्मीय' उसे अपने हाथ से निकलने देगा, इसका विश्वास मुझे नहीं होता है। हम लोगों में वह सबसे निपुण, नीतिमान और निर्भीक है—तुम्हें गर्व होगा अपने इस नौनिहाल पर। लेकिन मुझे तो उससे भी ऊँची उसकी वह 'बुद्धिमती' जान पड़ती है। देखना है—यह माया-जाल वह कैसे काट पाती है।...

परन्तु मुझे तो चिन्ता है तुम्हारी। जाने यों मौन होकर तुम

किसकी साधना कर रहे हो—कहीं वह मृग-तृष्णा ही न बनी रह जाए और तुम दौड़ते रह जाओ आजीवन उस मरु-घर में ! तुम तो कुछ लिखोगे नहीं, इस लिए न जिज्ञासा है, न कोई आशा ही, फिर भी शुभ-कामना तो करूँगा ही—कि तुम शीघ्र सुखी हो जाओ !...

सुखी होने की कामना तो करता हूँ, परन्तु स्पष्ट देखता हूँ—कि सुख हम अकिंचनों के भाल में लिखा नहीं है। यथार्थ तो यही है कि इस सामाजिक व्यवस्था में सुखी होने का हक कुछ ही लोगों को है। हाँ, कुछ अकिंचन भी उछलकर सुखासन पर पहुँच जाते हैं, पर टिकते हैं बहुत कम—देखते-देखते अक्सर वह कागज की नाव गल जाती है। मैं भी उछला था—और, अब देख ही रहे हो कि कहाँ जाकर गिरा हूँ। तुम भी शायद उसी तरह उछलकर लखपति बनने की बात सोच रहे हो ! याद रखोगे—सुख के उस रास्ते में स्वर्ग-द्वार के साथ-साथ बड़े घर का फाटक भी खुला रहता है !

वैसी हालत में 'अंबुजा' घबराएगी नहीं—अकेली भी उस कुटिया में रह लेगी। उसमें वह ताकत है कि जहाँ रहेगी, वहाँ आवश्यक बनकर रहेगी—स्नेह और संमान के साथ।

और, 'तरुण', जो चिनगारी ही बनकर पैदा हुआ है, वह तो जहाँ जाएगा, वहाँ तबतक आग लगाता ही रहेगा, जबतक बुझकर राख न हो जाए।

इसे कोई अभिशाप क्यों समझे ? इसकी भी आवश्यकता होती है—जैसे जंगल-झाड़ में दावाग्नि की होती है। इन्हीं के बल पर ही तो समाज के कूड़े-कर्कट साफ होते रहते हैं।

अतएव, चिनगारी चमकती रहे—इसी कामना के साथ—

तुम्हारा ही'

चिट्ठी पढ़कर 'तरुण' उद्विग्न हो उठा और पूछ-ताछ करने लगा—बच्चे के साथ कोई औरत आई थी क्या यहाँ उसकी खोज में ?...

किन्तु कोई कुछ जवाब न दे सका। तब 'तरुण' ने डाक्टर की ओर

देखकर कहा :

'घोसला तो उजड़ गया— अब क्या होगा ?'

'होगा क्या—एक उजड़ा, तो दूसरा बन जाएगा। चलिए भी तो—वह भी तो आप ही का है।'

'और—यह 'मिनिया' ?'

'यह तो इलाज के लिए आई ही थी मेरे पास। जब अच्छी हो जाएगी—और, जाना चाहेगी, घर पहुँचा दी जाएगी।'

'और—वह जो आ रही...'

इतना कहना था ही कि गोद में शिशु को लिए 'अंबुजा' दीख पड़ी कृष्णा-कुमारी के उस पार। देखते ही 'तरुण' बोला :

'देखिए—वह आ ही गई बहन 'अंबुजा'...'

देखते-देखते 'अंबुजा' एक छोटी-सी पेटी के साथ आकर भौंचक खड़ी हो गई—और, धीरे से बोल उठी :

'किस कृष्ण के वरदान का फल है—सुदामा यह महल ?'

'अभी-अभी 'अण्णा' का पत्र मिला है। पढ़कर समाप्त ही किया था कि आप आ गईं।'

'आप फिर भूल गए मेरा अनुरोध—मैं आपकी छोटी बहन हूँ—'तुम' ही कहिए मुझे।'

'तो फिर पहले डाक्टर साहब को प्रणाम करो। हम अभी इन्हीं के आश्रित हैं।...मैं भी अभी जेल से ही आ रहा हूँ। इसी बीच हमारी झोपड़ी उजड़ गई—और, यह इमारत खड़ी हो रही है किसी सेठ की !'

'अंबुजा' एकदम काठ हो गई 'तरुण' की बात सुनकर। 'तरुण' ने झट-पट शिशु को अपनी गोद में ले लिया, 'मिनिया' ने पेटी उठाई और सब लोग डाक्टर के पीछे-पीछे कहानी कहते-सुनते चल पड़े।

—०—

तीर्थार्थी

जिराफ की गर्दन की तरह जो राजपथ समुद्र को चीरता हुआ अन्तिम छोर पर पहुँचा था, वहाँ आगे और दाँएँ-बाँएँ हाहाकार करता हुआ अपार सागर-ही-सागर दीख रहा था।

संयोग से उस दिन आकाश साफ था—बादलों का कहीं नामो-निशान नहीं। ऐसा सुयोग यात्रियों को बहुत ही कम मिल पाता था। सूर्य-दर्शन का अद्भुत आनन्द अक्सर नष्ट हो जाया करता है बादलों के कारण। दूर-दूर से यात्री उसी लोभ से आते हैं—और, कई दिनतक बैठे रहकर भी अक्सर निराशा ही हाथ लगती है उन्हें। किन्तु वह दिन बड़ा ही शुभ्र था और यात्रियों का जमघट बढ़ता ही जाता था।

अलौकिक शोभा थी उस तीर्थ की। दल-के दल यात्री लहरों से चुम्बित चट्टानों पर बैठे नील नीर-निधि का वह आकुल आलोड़न देख रहे थे।

अरे, कैसा था वह अगम्य आलोड़न—जैसे अगाध के अमृतमय अन्तर में कालकूट हालाहल खौल रहा हो, जैसे किसी सहस्र-फण वाले भीषण भुजंग की कमर पर किसी अज्ञात दुर्दम की लाठी पड़ गई हो—और, वह प्राणान्तक दर्द से ऐंड़कर अन्धाधुंध सिर पटक रहा हो!

और, उस दर्द का मर्म कौन बताए?...किसे सुना रहा था वह अपनी अपरिसीम व्यथा?...अरे, किसके पास कान हैं, जो इस अगम आवेदन का मर्म-भेदी स्वर सुने?

अनन्त नद-नदियों का अनन्त सुस्वादु जल अनादि काल से पीता आ रहा है यह, पर न इसकी जलन मिटती है—और, न हाहाकार ही थमता है!

चट्टान पर बैठा 'तरुण' विचार कर रहा था:

'कैसा नीला है इसका पानी—शायद जो अनन्त है, अगम्य और अगाध

है, वही नीला होता है । यह आकाश भी नीला है—और, दूर से वह पहाड़ भी नीला ही दीखता है । तो क्या इसी लिए हमारे राम और कृष्ण का रंग भी नीला है ?...लेकिन फिर शिव क्यों श्वेत हैं ?...हैं तो वह भी 'नीलकण्ठ' ही, किन्तु चूँकि लोक-कल्याण का धवल चन्द्रमा उनके भाल पर विराजमान् रहता है, इसलिए उनकी नीलिमा उसकी चाँदनी में छिप जाती है । वास्तव में नीलापन शून्यता का ही सूचक होता है । शून्यता—अर्थात् अकिंचनता, गरीबी और फटेहाली !

शिव तो फटेहाल हैं ही, राम भी फटेहाल होने के बाद ही अपने नाम को सार्थक कर सके थे । और कृष्ण तो जनमते ही फटेहाल हो गए—माँ-बाप के पास भी न रह सके ! गोकुल में गाय चराते रहे—और, उसके बाद तो फटेहाली यों पीछे पड़ी—कि मथुरा से भगाकर उसने द्वारका ही पहुँचा दिया उन्हें !

फिर ध्यान आया उसे—कि बाहर की 'फटेहाली' उसी को सोहती है, जो भीतर से मस्त होता है । शिव की मस्ती का क्या कहना—जब कोप करते थे, तब आग ही बरसा देते थे । वनवासी राम के हाथों का बाण भी वैसा ही दुर्धर था—और, कृष्ण का चक्र-सुदर्शन तो अपना सानी ही नहीं रखता था कहीं !

हाँ, 'फटेहाली' के भीतर अन्तर की उस मस्ती का होना आवश्यक है—बगैर उस ताकत के यह फटेहाली किसी काम की नहीं ।...फिर वह गले में इसकी झोली टाँगे क्यों गली-गली की खाक छानता फिर रहा है ?...फटेहाल होने के पहले उसे पुष्ट और मस्त होना जाना चाहिए । 'रमा' यही तो चाह रही थी उससे । जैसे यह डाक्टर है—इसकी फटेहाली सब को अच्छी लगती है । क्योंकि, यह अपना बोझ किसी दूसरे पर नहीं डालता है—उलटे दूसरों का बोझ उठाता रहता है । अगर यह भीतर से मस्त न होता, तो आज ये फटेहाल कहाँ ठौर पाते ?...

नहीं, इस बाहरी फटेहाली का स्वागत करते हुए भी मुझे अन्तर की फटेहाली के विरुद्ध युद्ध छेड़ना है । डाक्टर की बात छोड़ो, 'तपोधन' के चेलों में कितने ऐसे हैं—जो 'बगुला-भगत' नहीं हैं ? वेश-भूषा की नकल करके जय बोलते हैं 'तपोधन' की—और, भीतर-भीतर उनकी नस-नस में भंकृत रहता है—

'जपोधन—जपोधन !' घाव की तरह मौके की ताक में रहते हैं; लेकिन जहाँ कोई ढेरी दीखी—कि मुँह से लार टपक पड़ी !

ऐसी नक्काली का पर्दा फाश करना होगा। समाज का जन-जन मस्ती और पुष्टी का महत्त्व जाने; और, इन बगुला-भगतों की फटेहाली को भीतर से पहचाने—तभी किसी नई चेतना का जन्म हो सकता है इस जरा-जीर्ण जन-मानस में !...

यह सागर क्यों गरज रहा है, क्यों यों छटपटा रहा है ? अवश्य वह इसी लिए युग-मानव को ललकार रहा है, पर अफसोस यही है—कि कोई सुन नहीं रहा है उसकी यह पुकार !'

'तरुण' देर तक यों ही निरुद्देश्य भटकता रहा—विचारों के बीहड़ जंगल में। उद्देश्य तो था उसका सूर्य-दर्शन—इसी लिए सबको सोया छोड़कर वह बहुत तड़के उठ आया था। तब तक पूरब में पौ भी नहीं फटी थी। देख रहा था 'तरुण' अपने सामने फैले महासागर को, सोच रहा था अग-जग की जाने कैसी-कैसी उटपटाँग बातें, परन्तु अन्तर उसका अनजाने ही पुकार रहा था :

'रमा, मेरे रोम-रोम में बसी रमा—जाने तुम कहाँ हो, घर में हो या जंगल-पहाड़ में; हो भी इस जग में कि नहीं—यह भी जानने का उपाय तो नहीं रहा अब।...अरे, यह कैसी बेबसी हो गई मेरी—जो आँखों की पुतली थी, वही अब ढूँढ़े भी नहीं दीख रही है !...

लेकिन वह कौन उछल रही है इन लहरों में, कौन झाँक रही है उन नक्षत्रों में, कौन चली जा रही है हवा की सन-सन में ?—अरे, कौन चहक रही है उन नारिकेल-कुंजों के कलरव में ?...'

हठात् पीठ पीछे से उड़ता पक्षियों का एक झुंड उसके माथे पर आया—और, अनन्त की ओर कुछ दूर उड़कर जाने क्यों पुनः लौट गया। 'तरुण' को लगा—'रमा' ही अंचल उड़ाकर गगन-पथ में संचरण कर रही है !...

तभी प्राची दिशा में अनन्त की क्षितिज-रेखा पर तिमिर के कक्ष का एक वातायन-सा खुला—और, 'तरुण' यों मुग्ध हो उठा—जैसे 'रमा' ही उनींदी आँखों पर से अपनी अलकें हटा रही हो !...

उधर मन्दिर में शहनाई और मृदंग की मधुर राग-रागिनियों के बीच पूजन-अर्चन का स्वर लहराने लगा—और, 'तरुण' यों ध्यानस्थ हो गया उसके श्रवण में—जैसे उसकी 'रमा' का ही वन्दन-अभिनन्दन हो रहा हो !...

देखते-देखते उषा के मुख पर गुलाल उड़ा और अरुणिमा की मंजुल अंजुली में एक औंधा-सा अरुण-घट डोलने लग गया। 'तरुण' ने सोचा—'रमा' ही उस अरुणिमा में झिल-मिल कर रही है !...

आया था सूर्योदय देखने—और, देख रहा था 'रमा' के सुकोमल हाथों में स्वर्ण-घट का वह मधुर दृश्य !...आया था उस तीर्थस्थल का दर्शन करने—जहाँ एक पाँव पर खड़ी एक कुमारी कन्या अनन्त काल से एक मन्त्र पढ़ रही थी :

> *"इच्छित फल बिनु सिव अवराधें।*
> *लहिअ न कोटि जोग-जप साधें॥"*

और, अब ढूँढ़ रहा था अपनी प्राण-रमा की मुख-छवि ! जैसे इस मन्दिर में भी उसकी 'रमा' विराजमान हो—और, भक्त-जन उसी की आरती उतार रहे हों ! तो क्या समस्त सचराचर में उसके लिए अब एक 'रमा' ही रमी हुई है और उसी के स्तवन-गान में सभी जड़-चेतन संभ्रम दीख रहे हैं ?...

सागर में वह स्वर्ण-घट डोलता रहा कुछ क्षण—और, फिर ऊपर उठा। तटस्थित यात्रियों ने उस हिरण्मय पात्र में जहाँ सत्य और धर्म के दर्शन किए, 'तरुण' ने वहाँ अपनी जीवन-ज्योति को ही प्रतिबिंबित पाया—और, उसी में लीन हो जाना चाहा।

सहसा तरंगों का एक ऐसा प्रचण्ड आघात आया—जो उस चट्टान को डुबोता भाग गया जाने कहाँ ! दर्शनार्थी चिल्ला उठे—'डूबा—गया—वह देखो—लोप हुआ !'...

सचमुच जिस चट्टान पर कोई ध्यान-मग्न था, वह अब सूनी थी—और, वह व्यक्ति ला पता था !

दर्शकों में कई करुण-कातर और जीवट वाले धड़ा-धड़ कूद पड़े तरंगों के मस्तक पर—और, लड़ते-झगड़ते खींच ही लाए उस बदहवास और बदनसीब को; क्योंकि, उसे अभी जीना और बहुत कुछ देखना शेष था !...

होश में आकर उसने देखा—जिसके ध्यान में वह डूबा था, क्या वही उसका हाथ पकड़े खड़ी थी उसके सामने ?...उसने आँखें मलकर देखा और अर्ध-स्फुट स्वर में अकचका कर पूछा भी :

'कौन—रमा ?'...

उसी तरह जवाब आया :

'कौन—तरुण...?'

दोनों एक-दूसरे को एक पल देखते रह गए अपलक। फिर दोनों हाथों से तरुणी को झकझोर कर 'तरुण' ने जाने किससे पूछा :

'तुम कहाँ इस विकराल वेला में—जब जीवन-लीला समाप्त होने जा रही थी ?'

'संन्यासिनी को सर्व जीव प्यारे होते हैं। देखा—कोई लहरों में ऊब-डूब हो रहा है; बस, दया-वश कूद पड़ी !'

'तो तुम संन्यासिनी हो—मेरी 'रमा' नहीं ?'

'कोई किसी नाम से पुकारे—मुझे नफरत नहीं।'

गौर से देखकर 'तरुण' ने सविषाद पूछा :

'संन्यासिनी के भाल पर यह लाल बिन्दी* क्यों ?... लाओ—मिटा दूँ इसे...'

'तरुण' के उठे हुए हाथ को रोककर 'तरुणी' ने कहा :

'नहीं, यह मेरे सुहाग का चिन्ह है—इस जन्म में नहीं, तो उस जन्म में उसे पाऊँगी ही।'

'किसे ?'

'जो मुझे चाहता है—और, जिसे मेरे प्राण ढूँढ़ते आ रहे हैं अनेक जन्मों से!'

'पहचानती नहीं—उसी को तो छाना है तुमने इन लहरों के जाल से।'

'नहीं, यह तो फटेहाल है और मेरा शिव है अवढर दानी—जो ऊँघते हुए 'एवमस्तु' कहता रहता है।'

देखते-देखते एक सघन कुहरा घिर आया 'तरुण' के सामने—और, संन्यासिनी सहसा उसी में समा गई।

'तरुण' अचानक जोर से चीख उठा :

'रमा—रमा...'

लेकिन वहाँ अकबक खड़ी थी मिनिया!

औचक आवाज आई पीछे से :

'लोग नहा-धोकर राम-राम जपते हैं—और, आप 'रमा-रमा' पुकार रहे हैं इस मिनिया बेचारी को पकड़कर!'

शरमाकर 'तरुण' बोला :

'क्या कहूँ, डाक्टर साहब—यहाँ आकर मेरी आँखों की ज्योति भ्रमात्मक हो गई है—एक में दूसरी सूरत दीखने लग जाती है। देखता हूँ कुछ—और, देखते-देखते दीखने लग जाता है कुछ दूसरा ही। सोचता हूँ कुछ—और, सोचते-सोचते ध्यान में चढ़ जाता है कुछ दूसरा ही।...यह मन्दिर जाने क्यों मुझे अपने में सटाए जा रहा है—जैसे वह चुम्बक हो और मैं लोहा। मेरे नेत्रों में जहाँ-तहाँ एक ही छवि उड़ती दीख पड़ती है—और, कानों में एक ही ध्वनि घुसती जान पड़ती है। आप निपुण नेत्र-चिकित्सक हैं—मेरे आँख-कान का इलाज कर दीजिए कृपाकर।'

'यह बीमारी बहुत पुरानी पड़ गई है। लगता है—जन्म-जन्मान्तर से

आ रही हो। इलाज इतना आसान नहीं—और, जरूरत भी नहीं, क्योंकि; धन्य-जीवन है वह—जिसको ऐसी बीमारी पकड़ती है !'

'तरुण' का छोटा मुँह कुछ और छोटा हो गया—और, छोटी आवाज में ही बोला :

'यह क्या कहते हैं, डाक्टर साहब ?'

'ठीक ही कहता हूँ—साधक खोखली मुरली होने का प्रयत्न करता है—जिससे जो स्वर निकले, उसी अगोचर का निकले, जो कहीं कुंज में छिपा तीक्ष्ण दृष्टि से उसे देख-परख रहा है। लेकिन वृन्दावन की बौरियाँ मुरलीधर की मुरली ही चुराकर कहीं रख देती थीं—जिससे किसी तीसरे का माध्यम न रह जाए। आप भी उसी ऊँचाई पर पहुँच रहे हैं। इच्छा होती है—आपकी यह बीमारी मैं भी मोल ले लूँ, लेकिन कोई दूर से ही अधरों पर उँगली रखकर चिल्ला उठता है :

"प्रेम न बारी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जेहि रुचै, सीस देइ लेइ जाय॥"

आपने चिन्ता के मूल को ही काट फेंका है—तब तो अगोचर का अधिकार आप पर हो ही जाएगा। इसो दखल-दिहानी का डंका बजने लग गया है। होशियार हो जाइए—आ रहा है असली मालिक !...इसी को कहते हैं—सदेह स्वर्ग पहुँचना...'

'जैसे त्रिशंकु महाराज पहुँचे थे—और, इन्द्र की लात खाकर औंधे-मुँह गिरे थे—अनन्त काल तक भूतल पर लार टपकाने के लिए—'

कहते-कहते—दूर से ही किसी को आते देखकर 'तरुण' अचानक रुक गया। 'अण्णा' ने आते ही 'तरुण' को फटकारा :

'यह क्या पागलपन है—कि आधी रात को ही उठ आते हो इस खतर-नाक चट्टान पर ! जानते भी हो—अक्सर लोग यहाँ से गायब हो जाते हैं !...जाने कैसे 'मिनिया' पहुँच गई थी समय पर, नहीं तो...'

हठात् 'अण्णा' रुका— और कुछ गंभीर होकर बोला :

'तुम तो, लगता है, यहीं जल-समाधि लेने की बात सोच रहे हो ! लेकिन मैं अब एक दिन भी नहीं रुकूँगा। 'तपोधन' का बिगुल बज चुका है— जो जहाँ है, वहीं उपद्रव खड़ा कर दे ! कोई किसी की चिन्ता न करे।...सुनो— कोई क्या पुकारता चला जा रहा है :

"कबिरा खड़ा बजार में लिए लुकाठी हाथ।
जो घर जारे आपना—चले हमारे साथ ॥"

'गंभीर उन्मादक स्वर है यह, 'तरुण'—ऐसे उत्सर्ग के समय कोई दूसरी बात क्यों करे ?...क्या कहते हैं, डाक्टर साहब—आपका क्या विचार है ?'

डाक्टर मौन था; और, 'तरुण' गौर से उसका मुँह देख रहा था—जैसे उसके अन्तर में उठने वाले असमंजस को पढ़ रहा हो :

'निसर्ग नेत्र बन्द करके दोनों काम करता है—ममता के एक हाथ से वह बनाता है, तो दूसरे से निर्मम होकर तोड़ भी देता है।...लेकिन आँख वाला आदमी भी वही करे—यह तो कोई जरूरी नहीं जान पड़ता है।...और, 'तपोधन' का यह आदेश है— इसका विश्वास मुझे नहीं हो रहा है।'

'अण्णा' अधीर हो उठा और उपेक्षा से बोला :

'यह तो आँधी को देख कर बालू में चोंच गाड़ने का शुतुरमुर्गी ढंग हुआ !...घर में आग लग जाने पर अमूल्य-से-अमूल्य पदार्थों को भी आँखें मूँद कर बाहर फेंकना ही पड़ता है !...साधारण घाव भी जब सड़ने लगता है, तब कठोरता-पूर्वक मरीज को काबू में करके उस अंश को काट ही देना पड़ता है।... देश में आज वही आग है, वही आँधी है, वही बहिया है ! इसके विरुद्ध जो अड़ेगा—उड़ जाएगा, जल जाएगा, बह जाएगा ! 'तपोधन' ने यही संकेत किया है—नव-निर्माण के पहले सड़े-गले का संहार अति-आवश्यक है।'

डाक्टर ने शान्त और सुस्थिर स्वर में कहा :

'उत्तेजना के स्वर में सहज ही उन्माद आ बसता है—और, उसका

आकर्षण ऐसा जबर्दस्त होता है कि शायद ही कोई उस खिंचाव-बहाव से बच सके। इसी लिए शिव को भी संहारार्थ कभी-कभी रुद्र रूप धारण करना पड़ता है—मानता हूँ, परन्तु उस संहार में शिव और शिवत्व को भुला ही दिया जाए, इसका कायल मैं नहीं हूँ। और, जो...'

उसी समय तिरंगा झंडा लिए देवियों का एक दल सिन्धु के स्वर को आक्रान्त करता हुआ सैकत-तट पर आ निकला :

"उठा चरण—उड़ा गगन,
शैल - श्रृंग तोड़ गहन,
गरज गरज—विजय - वरण !"

सहसा 'तरुण' उठ खड़ा हुआ—और, उस आँधी-तूफान को देखकर उन्मत्त होता-सा बोला :

'डाक्टर साहब, जब इस देश की कुसुम-कोमला देवियाँ भी दुर्गा बन सकती हैं, तब श्मशान-प्रिय शिव को 'रुद्र' होने में अब कोई देर नहीं है। संहार का शंख बज रहा है—प्रलय-ताण्डव मचने जा रहा है। क्रान्ति का यह नाद अतल से उठा है, डाक्टर साहब—इसको दबाना किसी के बल-बूते की बात नहीं है। अत्याचार के ताप ने 'तपोधन' का तीसरा नेत्र खोल दिया है—यह उसी की जलती शिखा लपकती चली आ रही है।...वह देखिए—गोद में शिशु को लिए वह कौन दौड़ी चली जा रही है ?...'

'अण्णा' उछल पड़ा :

'अरे, वह तो मेरी 'अंबुजा' है—अब मैं नहीं रुक सकता, 'तरुण'...'

कहकर 'अण्णा' दौड़ पड़ा—पागल की तरह उस दल की ओर।

'तरुण' ने कुतूहल से देखा और पुलकित होते कहा :

'डाक्टर साहब, वह देखिए—हमारी पगली 'मिनिया' भी दौड़ी चली जा रही है उसी ओर। लगता है—कहीं 'रमा' भी न हो उस दल में...तब तो मैं भी रुक नहीं सकूँगा अब--इस तट पर...'

कहकर पागलों की तरह 'तरुण' भी उछला—और, देखते-देखते प्रचण्ड प्रवाह की भाँति उमड़ती भीड़ में गायब हो गया।

डाक्टर अकेला बैठा रह गया तट पर—जैसे कोई कपाली मुर्दे पर बैठा मसान जगा रहा हो!

जेल का फाटक बन्द है। निशा गहरी है और दो बंदी देवियाँ साथ-साथ सोई हुई हैं। बाहर पहरेदार की भारी पद-चाप सुनाई पड़ती है।

सहसा एक बंदी गहरी नींद से चौंक कर उठ बैठी—और, दूसरी को जगा कर उसकी छाती से लिपट गई :

'मामी...'

दूसरी ने उनींदी आँखों से उसे देखा और घबराकर बोली :

'क्या—कोई बुरा सपना देख रही थी?'

'सपना नहीं था, मामी—वह भी शामिल था उस भीड़ में। 'मिनिया' भी थी, मगर वह मुझे पहचान न सकी। उसका वह मित्र भी था—जो 'तपोधन' के सामने मुझे घूर रहा था...वह भी अनजान-सा देखता रह गया।'

मामी अनमनी होकर बोली :

'यह सब क्या कहती हो—इस तीर्थ-भूमि में...'

'मामी, तीर्थ आखिर आदमी ही तो बनाता है—और, आदमी को कोई कैसे भूल सकता है?'

मामी मुसकुराकर बोली :

'डाक्टर भी तो आदमी है—और, अपना सर्वस्व लेकर पड़ा हुआ है तुम्हारे पीछे; पर तुम उसकी चर्चा क्यों नहीं करती, बेटी?'

पहली ने गहरी साँस खींच कर कहा :

'मामी, डाक्टर मेरे रूप पर रीझा है, मेरे यौवन में उलझा है, मेरे धनमान को प्यार किया है—परन्तु वह—री मामी, तुम से तो कुछ छिपा नहीं है—उसका ध्यान आते ही मेरे अंग-अंग के बन्द खुल जाते हैं—और, मैं बेबस बन जाती हूँ...'

'फिर कठघरे से यों भागी ही क्यों उसको छोड़कर?'

'इसी का तो पछतावा है, मामी—वह कुछ पूछना चाहता था, पर

मैंने ही उसका सिर झुका दिया अपनी हेठी से...'

'तो फिर दौड़ी गई ही क्यों गवाही देने—भोगने देती करनी का फल।'

'क्या कहती हो, मामी—करनी मेरी थी या उसकी?...जो मुझे बचाने के लिए अपने को यों फँसा रहा था, उसको भला मैं जेल में कैसे सड़ने देती?'

'तो फिर यहाँ क्यों दौड़ी आई?'

'दौड़ी आई इस लिए—कि उसके बिना जीना बेकार लगा। न उसको पकड़ सकती थी, न छोड़ने की सामर्थ्य ही मुझमें थी।'

'तो मेरे पास क्यों आ गई—पिता का घर तो भरा-पूरा था ही!'

पहली बंदी कछमछा कर कहने लगी:

'मामी, तुम जानकर भी अनजान बन जाती हो। वह घर भला घर रह गया है मेरे लिए—जहाँ न प्यार हो, और, न कोई स्वतंत्रता ही!...एक माँ का प्यार शेष था, किन्तु जब से मैंने उस भौंरे का मन लेना चाहा, वह भी निर्मम हो गई!...कैसे अचरज की बात है, मामी—जब तक वह जानती रही कि मैं डाक्टर को प्यार नहीं करती, तब तक तो वह गर्व से मुझे देखती रही—और, जैसे ही मेरा रुख बदला, कि वह भी एकाएक बदल गई!...एक धर्म-भीरु माँ का भी कैसा अद्भुत हृदय होता है, मामी—फटेहाल के साथ मुझे देखकर उसे संतोष होता था, मगर उस खुशहाल के साथ देखते ही उसकी आत्मा सिहर उठती थी!'

मामी ने गर्व से भरकर कहा:

'क्योंकि वह जानती थी—कि तुम तन-मन-प्राण से उस पर निछावर हो।'

'हाँ, मामी—उसका गर्व देखने लायक था, परन्तु उसके बाद जो घृणा घिरी उनके मन में, वह तो मुझे काँटों में घसीटने लगी! भला उस घर में मैं कैसे लौटती, मामी—जहाँ दिन-रात भौंरे की तरह वह डाक्टर मँड़राता रहता था मेरे चारो तरफ?...एक ओर माँ की घृणा और दूसरी ओर उस भ्रमर की गूँज—दोनों मेरे लिए जहर की प्याली बन गई थी। साथ ही जीजी का द्वेष और पिताजी का रोष—दोनों मुझे घर से ढकेल ही रहे थे। कहीं कोई ठौर न पाकर सागर में कूदना ही चाहती थी—कि बिजली की तरह तुम मेरी आँखों

में कौंध गई !...सच, मामी—अगर तुम मेरे जीवन में न आई होती, तो मेरा यह जीवन उसी समय समाप्त हो गया होता। यह दूसरा वरदान है तुम्हारा...'

'जीवन के साथ इस जेल का क्या सम्बन्ध—जो तुमने हाथ में झंडा ले लिया ?—आई तो थी तीर्थार्थी बनकर...'

'मामी, यह भी एक रहस्य ही समझो। हमारे यहाँ तीर्थों की कमी नहीं है—एक-पर-एक मोक्षा-दायी तीर्थ मिलेंगे यहाँ तुम्हें। लेकिन जेल सबसे बड़ा तीर्थ है, इसकी कल्पना 'तपोधन' के मन में ही पैदा हुई थी....'

'तपोधन से तो तुम चिढ़ती रही थी...'

'अब भी वह चिढ़ दूर नहीं हुई है; परन्तु यह तो उनकी नहीं, स्वतंत्रता की पुकार है। बहुत दिनों के बाद देश की तरुणाई ने ऐसी पुकार सुनी है, मामी। साथ-साथ यह एक ऐसी आग है—जो काले-से-काले लोहे को भी कुन्दन बना देती है। देखना मामी, यह आग देखते-देखते देश की तरुणाई को तो चमकाएगी ही, साथ ही कायरता और कापुरुषता को भी जला देगी। स्त्री ही उसकी मूर्ति मानी जाती थी—और, जब वही हाथ में झंडा उठाकर रणचण्डी बन जाएगी, तब 'मर्द' नाम वाला भला कौन सोया रहेगा—कानों में तेल डालकर ?'

'मिनिया भी तो आई ही होगी—तुमने ठीक पहचाना था उसे ?'

'मैं क्यों नहीं पहचानती—अगर पकड़ी गई होगी, तो कल दीख ही जाएगी।...मैंने तुमसे नहीं कहा—कई दिन से मैं उसे देख रही थी उसके साथ। आज भी उस तट पर जब किसी के डूबने का हल्ला हुआ, तब मैं भी दौड़ी गई उस भीड़ में—और, मिनिया की बहादुरी देखकर दंग रह गई। बिलकुल जान की परवाह न कर वह लहरों में कूद पड़ी थी—और, खींच ही लाई तट पर !'

'किसको ?'

'उसी अभागे को—जो जन-जन में मुझी को ढूँढ़ रहा है...'

'यह कैसे जान सकी तुम ?'

'देखा—चट्टान पर बैठा पूरब की ओर देख रहा था—और, नाम रट रहा था मेरा !...यही नहीं, डूबने से बचाया था 'मिनिया' ने—और, उसकी सूरत में देख रहा था वह मुझको !...भीड़ में छिपी मैं ठीक 'मिनिया' के पीछे ही खड़ी थी—जैसे ही उसने उसके भाल पर लाल बिन्दी ढूँढ़ी—कि मैं खिसक

पड़ी!...मामी, वह मुझे ढूँढ़ रहा है—और, मैं भी उसे ढूँढ़ रही हूँ, परन्तु चकवा-चकई की तरह नियति-निशा हमें मिलने नहीं देती है !—जब-जब मौका आता है—कभी वह चूक जाता है, कभी मैं ही फिसल जाती हूँ।...लगता है—यह जीवन यों ही बीत जाएगा इस भूल-भुलैया में...'

आह लेकर मामी बोली :

'सच कहती हो, गिरि—आदमी किसी अज्ञात के हाथों का खिलौना-मात्र है ! अपना सोचा शायद ही किसी भाग्यशाली का सफल हो पाता है।... लेकिन, जब तुमने अपनी सन्दूकची भी भेज दी उसके पास, तब भी भला वह विदेश क्यों न जा सका ? अब तो वह भी तुम्हारे हाथ से निकल गई...जो भी हो, लेकिन क्या 'मिनिया' पर तुम्हें शक नहीं होता है—कहीं वह अमानत में ही खयानत न कर रही हो .'

सहसा 'रमा' का मुँह लज्जा से लाल हो उठा, किन्तु बड़ी सावधानी से अपने को सम्हाल कर वह बोली :

'मामी, वह नीच जाति की लड़की है सही—सभ्य और सुशिक्षिता भी नहीं है। इसी से यह सब वह नहीं सीख सकी। मुझे आश्चर्य होता है उसके भोलेपन पर—जैसे अपनी जवानी का उसे कोई भान ही न हो। सच कहती हूँ, मामी,—इस शिक्षा और सभ्यता ने हमारी सहज सरलता, उदारता और निष्ठा को मिट्टी में मिला दिया है। मानव के इन सहज गुणों के दर्शन तुम्हें अब सभ्यता के केन्द्रों में नहीं, सभ्य कहलाने वाली कुल-बधुओं या कुल-कुमारियों में नहीं, 'मिनिया' की तरह नीच और उपेक्षित जंगली जातियों में ही हो सकेंगे।...'मिनिया' की दादी की कहानी मैं सगर्व सुनती रही हूँ—भरी जवानी में उसका पति मर गया दो छोटे-छोटे बच्चों को छोड़कर; उसके यहाँ कोई बन्धन भी नहीं—और, लोग उसे उकसाते भी रहे; फिर भी उसकी दादी उन बच्चों को छाती से लगा कर अपनी अल्हड जवानी को बहला ले गई। लेकिन आज जरा भले-भले घरों में झाँक तो लो—कैसी-कैसी आँख-मिचौनी के खेल देखने को मिलते हैं !'

'सच, गिरि,—इस शिक्षा और सभ्यता ने सरल मानव की रीढ़ ही तोड़

फेंकी है—बाहर से बना-ठना, परन्तु भीतर से वह बिलकुल कुबड़ा हो गया है !'

'तपोधन ने इसका कूबड़ सीधा करने का व्रत लिया है—यह शंख-नाद, यह सिंह-गमन, यह रण-निमंत्रण तुम्हें क्या संकेत करता है, मामी ?'

मामी कुछ देर चुप रहकर बहुत धीमे स्वर में बोली :

'फिर तुमने पहले अपना कूबड़ क्यों न ठीक किया—'तरुण' को विदेश भेजने के लिए आकाश-पाताल क्यों एक करने लग गई ? इसमें तो कोई तारतम्य नहीं दीखता है मुझे ।—और, यह जोश-खरोश तो मुझे मुलम्मा ही जान पड़ता है—बरसाती नदी जैसे कूल किनारा छोड़कर सन-सनाती बह चली हो...'

'नहीं, मामी—यह राष्ट्र बहुत दिनों के बाद जागा है; इसके अभिमान पर यों निर्मम चोट मत करो । इसके ईमान पर शक न लाओ—यह 'करो या मरो' का संकल्प लेकर उठ खड़ा हुआ है—जरा कमर तो सीधी कर लेने दो इसे...'

मामी का मुँह बिचक गया :

'तो क्या समझती हो—इस हो-हल्ला से विदेशी भाग जाएगा---जिसके एक हाथ में तोप-तलवार की ताकत है और दूसरे में पद, प्रतिष्ठा और नौकरी देने के लिए कुबेर का कोष खुला हुआ है ।—क्या हजारों साल का गुलाम और टुकड़-खोर देश कभी लोभ-लालच छोड़ सकेगा ?—और, गिरि—जिस देश में धर्म-कर्म, जात- पाँत, ऊँच-नीच, छूत-अछूत का इतना अपार भेद-भाव हो, वह देश क्या कभी एक झंडे के नीचे खड़ा हो सकता है ?—खड़ा होना भी चाहे, तो क्या चतुर-चालाक दुनिया इसे खड़ा होने देगी ?—तुम्हारे 'तपोधन' राम-नाम की धुन लगाते तो फिरते हैं—किन्तु क्या 'राम' का आदर्श है उनके पास ?'

'रमा' एकदम घबरा उठी इतने प्रश्नों की झड़ी में । मामी को वह मूढ़ ही मानती आ रही थी । इस लिए धीरज खोती हुई बोली:

'देख नहीं रही हो, मामी—कि आसेतु-हिमाचल आज कैसा डोल रहा है, कैसा गरज रहा है और कैसा भागा चला आ रहा है इस तिरंगे झंडे के नीचे ? कोई लोभ-लालच दीखती है कहीं, कोई भेद-

भाव देख पाती हो किसी में, ऊँच-नीच, धनी-गरीब का क्या कोई ख्याल भी कर रहा है इस समय ?—मामी, यह वह दुर्धर प्रवाह है, जो हिम-शैल-शिखर से छूटकर बह चला है सागर की ओर —कौन शक्ति इसे रोक सकती है ?—'तपोधन' ने राम के रुप में मुक्तात्मा महामानव को पकड़ा है, मामी—जिन्होंने सौतेली माँ के लिए राज्य छोड़ा, दीन-हीन कौपीन-धारियों के लिए शर जोड़ा, गुण की पूजा करके गीध ऐसे अधम को भी पिता के पद पर बिठाया, भीलनी के जूठे बेर का भी आदर किया, बन्दर-भालू की तरह रहने वाले वन-वासियों को जमा करके समुद्र में पुल बाँधा—और, पर-धन एवं पर-दारापहारी उस सार्वभौम सम्राट् का स्वप्न तोड़ कर मरती मानवता को बचा लिया था ! 'तपोधन' उसी महामानव राम के पुजारी हैं—जिन्होंने चिर-उपेक्षित केवट के प्रेम को पहचाना, नीचे निषाद को भाई की तरह गले लगाया और रावण-जैसे दुश्मन के भाई को भी निधड़क अपने मंत्री-मण्डल में शामिल कर लिया था !—मामी, 'तपोधन' के राम किसी एक देश के नहीं, किसी एक जाति के नहीं, किसी एक धर्म के नहीं, मानव के किसी दल-विशेष के नहीं—बल्कि मुक्तात्मा विश्व-मानव के प्रतीक हैं।—मामी, राम धरती पर आए हों या नहीं, परन्तु जिस महामानव के मन में प्रथम बार वह अवतरित हुए, उसने आदर्श-मानव के रूप में ही उन्हें भूतल पर उतारा था—जो लोभ-लालच के आँधी-तूफान में भी निर्लोभ रह जाए, जो असि-झंकार, अग्नि-वर्षा और नाग-पाश के बीच भी निर्भीक खड़ा रह सके, जो दीन-हीन की पुकार पर प्राणों से भी प्यारी पत्नी को त्यागने में भी न हिचके, जो स्वर्णराशि के ऊपर बसी लंकापुरी को जीतकर भी एक कण उसका अपने हाथ में न ले—राम मानव के वही ललाम आदर्श थे। जैसे मानवता को मथकर ही राम का अवतार हुआ हो। राम की पूजा में उसी मानवता की पूजा होती है, मामी—'तपोधन' के राम इसी लिए सबके राम हैं, सबके सोते-जागते का स्वप्न हैं, सबके जीवन का जीवन हैं, जो मानवात्मा के चिर-आश्रय, चिर-विश्राम और चिर-चिद्विलास हैं...'

मामी सुनते-सुनते सचमुच मूढ़ और मुग्ध बनकर 'रमा' का मुँह देखती रह गई—और, बड़ी देर के बाद बोली :

'मैं अपने को आस्तिक और तुमको नास्तिक समझ रही थी अब तक। 'तपोधन' के पास जाने में भी मुझे हिचक होती थी और उनकी 'राम-धुन' को तो मैं ढोंग ही मानती थी —हिन्दू होकर भी जो वर्ण-धर्म न माने, वेद शास्त्र का कायल न हो, शिखा-सूत्र का संमान न करे, आचार-विचार को ताक पर रखकर जो सब के साथ रोटी-बेटी का प्रचार करे—उसे कोई राम-भक्त कैसे कह सकता है ?—तुम्हारे मामा भी जब जेल से लौटते थे, तो बिना प्रायश्चित कराए मैं कभी उन्हें घर में पाँव नहीं रखने देती थी !'

'फिर मुझे क्यों खिलाया अपने हाथ से---मैं भी तो ब्राह्मण की बेटी थी ? क्या इसमें तुम्हें पाप-पुण्य की भावना नहीं दीखी थी ?'

'अरे, जब पहले-पहल तुम्हारे पिताजी घर में आए, तो मैं दौड़ कर एक ब्राह्मण को ही बुला लाई थी रसोई बनाने के लिए, मगर उनकी फटकार सुनकर मन-ही-मन कुढ़ती रह गई— 'तपोधन' ने सब के धर्म-कर्म को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया !...लेकिन तुमने तो आज ज्ञान की गंगा ही बहा दी—जिसमें मेरी मूढ़ता भी बहती दीख पड़ती है। सोचती हूँ—धन्य है उन लोगों का जीवन, जो ऐसी गंगा में नित्य नहाया करते हैं !'

'मामी—दिव्यात्मा मामी—मुझे यों लज्जित न करो; मैं तुम्हारी चरण-धूलि भी लेने लायक नहीं हूँ। तुम में जो सहज निष्ठा है, सरल ममता से जैसा तुम्हारा हृदय उमड़ता रहता है, दुःख-दुर्दिन में अपने को भूलकर जिस प्रकार तुम दौड़ सकती हो—कहाँ मिलती है ऐसी ज्ञान-गंगा ?...हमारे ऐसे लोग तो तोते की तरह कुछ रटी हुई बातें बोलना सीख लेते हैं और ज्ञानी बने फिरते हैं।—फिर भी, मामी—इतना तो जरूर कहूँगी, कि राम के रूप को जैसा तुलसी दास ने परखा, पचाया और जन-मानस तक पहुँचाने का प्रयास किया, वैसी मर्मज्ञ मेधा-प्रतिभा का अवतार भूतल के भाग्य से ही होता है। उनका 'रामचरित मानस' इस देश के लिए तो ज्ञान-गंगा है ही, विश्व के लिए भी महामानवत्व का विमल दर्पण है। हमारा युग जब मारक मशीनों की खोज से ऊब कर मानवत्व को ढूँढ़ना चाहेगा, तब तुलसी

का 'मानस' सब से आगे झंडा लिए चलता दीख पड़ेगा। मामी, 'मानस' में भारत की चिर-संचित ज्ञान और साधना का सार तो भरा है ही, साथ ही राम के रूप में मानवता का जैसा मर्म-मधुर मन्थन इसमें पाया जाता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।—'तरुण' ने मुझे दुनिया का चाहे जो भी कष्ट-सुख दिखाया हो, परन्तु उसने 'मानस' के आस्वाद-ग्रहण कराने का जो प्रयत्न किया, उसे तो मैं जन्म-जन्मान्तर में भी नहीं भूल सकती हूँ।'

'मुझे तो शिव की पूजा ही बड़ी सरल मालूम होती है—बस, भाँग-धतूर, बेल के पत्ते और थोड़ा जल—आशुतोष को और कुछ चाहिए ही नहीं !'

'मामी—जिस युग ने शिव के स्वरुप की कल्पना की, उसने मानव-जीवन का कैसा अद्भुत मन्थन किया होगा—सोचो तो भला। जटा-जूट में गंगा, भाल पर दूज का टेढ़ा चाँद; गले और देह में लिपटे—फुफकारने साँप—और, कण्ठ में हालाहल गरल ! पत्नी अनुपम सुन्दरी, पर सिर पर सौत की चुभीली दृष्टि; बेटे दो, मगर माँ को प्रसव-पीड़ा का पता नहीं ! बाप का वाहन बैल, माँ का वाहन सिंह, हाथी की सूँड़ वाले बेटे की सवारी चुहिया और छह मुँह वाला मोर पर सवार !...एक ओर सौतिया डाह का भय, दूसरी ओर बेटों की चढ़ा-ऊपरी, और वाहनों की भयाकुलों की दृष्टि—वृषभ सिंह को देखकर सहमा हुआ, चूहा साँप की नजरों से दुबका हुआ, साँप मयूर से घबराया हुआ ! न घर, न द्वार—और, निवास कैलास के शिखर पर ! इस राग-द्वेष, वैर-विरोध, गरल-अनल के सतत संघर्ष में शिव का शासन—और, अद्भुत अनुशासन !

जीवन का कैसा जटिल जाल—और, शिव की कैसी शान्त समाधि, उनका कैसा औढर स्वभाव, दीन-हीन जनों पर उनका कैसा अनुराग, कैसी उनकी सम-दृष्टि, कैसा दान-वरदान और विषम संकट का कैसा सामना !...

रावण उनसे वर पाकर ऐसा उद्धत हुआ—कि उन्हीं के कैलास को बाहुओं पर तौलने लग गया, उधर भस्मासुर ऐसा चेला हुआ—कि उन्हीं के माथे पर दहकती हथेली रखने को दौड़ पड़ा !...

ऐसे सरल, स्वार्थ-शून्य, परोपकारी, उदार, जन-प्रिय देवता को हम अपने जीवन में उतारें—तभी न हमारी पूजा सार्थक हो, मामी।'

मामी ने मुँह बनाकर कहा :

'देवता को दूर से प्रणाम किया जाता है. जीवन में उतारा कैसे जाएगा, बेटी—यह तो बताओ मुझे ?'

'जैसे लोग राम-सा बेटा चाहते हैं, सीता-सी पतोहू माँगते हैं, भरत-सा भाई कहकर पुलकित होते हैं ! पूजा गुण की होती है, मामी—पत्थर की नहीं। वह गुण हम भूल न जाएँ, इसी लिए मन्दिर में मूर्ति की स्थापना की जाती है।'

मामी उदास होकर बोली :

'हम मूढ़ों की समझ में यह सब नहीं आता है, बेटी—हम तो अपने दुःख से घबराकर देवता के पास जाते हैं और दुःख दूर करने की प्रार्थना करके लौट आते हैं।—अच्छा, तुम कृष्ण की बात क्यों नहीं करती, बेटी—उन्होंने तो गीता का उपदेश दिया है। तुम्हारे मामा उसकी बड़ी तारीफ करते हैं, परन्तु मेरी समझ में तो खाक-पत्थर भी नहीं आता।—कृष्ण कैसे लगते है तुम्हें ?'

'कृष्ण को तो लोग राम से भी ऊँचा मानते हैं, लेकिन उनका जीवन सामाजिक सुरुचि को जटिलता के जाल में डाल देता है। तुम्हीं कहो न, मामी—गीतगोविन्द के पद हम लोग गाते हैं जरूर, किन्तु अगर उसके अर्थ पर विचार करें, तो शरम से सिर झुक जाएगा।—गीता जहाँ की तहाँ पड़ी रह गई, परन्तु गीतगोविन्द समाज में गुपचुप फैलता चला गया—और हम 'राधा कृष्ण' के नाम पर जाने क्या-क्या करने लग गए !—तुलसीदास ने इसी विषमता के बन्धन को काटने के लिए राम के आदर्श-चरित को जनता की भाषा में लोक-प्रिय बनाकर उपस्थित किया है। गीता विचार-ही-विचार है यहाँ-से-वहाँ तक, लेकिन 'रामचरितमानस' में विचार और आचार हाथ मिलाकर ही नहीं, होड़ लगाकर भी चलते हैं—जिससे बड़ी सुगमता से विचार आचार का मूर्त रूप ले सकता है।'

'नाम-कीर्तन को तुम क्या समझती हो, बेटी—नाम लेने से हमारे पाप कटते हैं न ? मुझको 'राम-राम' कहना बड़ा आसान मालूम होता है और नामों से।'

'बहुत ठीक कहती हो, मामी—बोलने में 'राम' शब्द जितना प्यारा, जितना सुगम, जितना मनोहर हमें लगता है, उतनी सरलता, सुगमता, सुन्दरता और सम्पूर्णता दूसरे नामों में शायद ही मिल पाए। परन्तु तुलसीदास ने 'राम'

को जन-जन तक पहुँचाने का जैसा अथक परिश्रम किया है, वह तो देखते ही बनता है। इस देश की साधना-आराधना में जितने भी पूज्य और उपास्य रहते आए हैं, सबके प्रति नतमस्तक होकर भी वह अपने राम के प्रति जैसी अनन्यता प्रकट करते हैं, वह तो 'मानस' में डूबने पर ही हम जान सकते हैं।'

'बेटी, अगर दो अक्षर उसका तुम इस मूर्खा को भी पढ़ा देती, तो मेरा जीवन धन्य हो जाता।—मैं तो तुम्हें फूल-पत्तों पर उड़ने वाली पुलकित-पंखी तितली ही समझती आ रही थी, किन्तु तुमने तो अपने प्राणों में ऐसा मधु-कण बटोर रखा है, जो पत्थर को भी मोम की तरह पिघला देता है!—अच्छा, यह तो कहो—कृष्ण की मुरली पर तुम क्यों न रीझी, बेटी—हमारे समाज में तो 'भागवत' का बड़ा मान है!'

'वृन्दावन के निर्जन-निकुंज में, कल-कल करती कालिन्दी के एकान्त पुलिन पर, जहाँ नीरव निशा निस्तब्ध हो—और, पूर्णिमा की दुग्ध-फेन-सी चाँदनी फैली हो, उस वन-प्रान्त में कदम्ब की डाल पर बैठकर वंशी बजाने वाला कोई कृष्ण—और, उसको घेर कर पागल-सी नाचने वाली बहू-बेटियाँ किसी भी युग के किसी भी समाज की श्रद्धा प्राप्त नहीं कर सकतीं, मामी! उनका आध्यात्मिक और भावनात्मक मूल्य जो भी हो, सुरुचि-पूर्ण सामाजिकता में उसका कोई स्थान नहीं हो सकता। यह समाज को नष्ट-भ्रष्ट कर देगा—और मानव की मेधा ने दीर्घ काल की साधना के बाद जिस संस्कृति का विकास किया है, वह फिर उच्छृंखल होकर पशुता का पोषण करने लग जाएगी।—मामी, और भी एक बात ध्यान देने की है—जो व्यक्ति गोकुल की अनगिन कुल-ललना को भटकाता रहा, जहाँ गया, वहीं लोचन लड़ाता रहा; वह कितना भी ज्ञानी-ध्यानी क्यों न हो, कितना भी कला-कुशल क्यों न दीखे, आँख-मिचौनी के खेल में कितना भी निपुण क्यों न मालूम हो—सुसंस्कृत समाज का विश्वास-पात्र नहीं हो सकता है। समाज सर्वप्रथम चारित्र की खोज करता है—और, कृष्ण के नाम पर जो चरित्र हमारे समाज में आया, उससे इस राष्ट्र की रीढ़ ही टूट गई। राम ही किसी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र को चरित्रवान् करने की क्षमता अपने में रखते हैं—जिन्होंने दूसरी स्त्री पर कभी कुदृष्टि नहीं डाली। यही नहीं जिसने उनकी स्त्री के साथ छेड़खानी करने की हिमाकत की, उसको राम ने या तो आँख

निकाल ली—या उसको मिट्टी में ही मिलाकर छोड़ दिया ! इस दृष्टि से तो कृष्ण का चरित्र पासंग पर भी नहीं चढ़ता है ! हाँ, उनकी नीति, उनका ज्ञान, उनका चमत्कार अपने स्थान पर है—जिनके बारे में मैं मुँह नहीं खोल सकती। मैं तो जीवन में उतारने लायक देवता को ढूँढ़ती रही हूँ—और, वह मुझे 'रामचरित मानस' में ही मिला है, मामी—जीवन से दूर रखकर देव-मन्दिर के चौकठ पर सिर पटकने को मैं पूजा-अर्चा नहीं मानती, मामी—इस दृष्टि से तो मुझे नास्तिक ही समझो।'

मामी अभी कुछ कहने जा ही रही थी—कि सहसा वह निस्तब्ध निशा 'प्रभात फेरी' के अद्भुत गर्व-गान से गूँज उठी—जैसे उन्मद उदधि की तुंग तरंगों को रौंदती हुई धरा के धीर-वीरों की वह उन्मत्त उमंग अग-जग को अपनी स्वर-लहरी में डूबो देने जा रही हो ! सब कुछ भूलकर दोनों बन्दी देवियाँ मुग्ध भाव से मरण-त्योहार मनाने वालों की वह पागल पुकार सुनने लग गईं :

"उठा चरण,
उड़ा गगन,
शैल - शृंग तोड़ गहन !
गरज गरज — विजय - वरण !
तरुण अरुण देश जगा,
टोप - तोप - भय भगा,
बाल - वृद्ध - युवति-युवा—
शैल-शृंग तोड़ गहन !
गरज गरज — विजय - वरण !!"

गान की उमंग-तरंग रह-रह कर उछलती और गगन को छूने का प्रयास करती जान पड़ती थी। धरित्री के इस जोश को देखकर ऊँचे लोक में चमकते-बिहँसते वे अनगिन तारे कभी भय से दुबक जाते, तो कभी उल्लास से खिलखिला पड़ते थे।—मामी ने कुछ सोच कर कहा :

'बेटी, गान तो वही है—जो तुम कल गाती थी। लेकिन आज जोश ज्यादा जान पड़ता है। लगता है—औरतों को आगे बढ़ते देखकर मर्दों में ज्यादा जोश उमड़ा है।...लेकिन बेटी—यह तो बताओ, कि विदेशी बन्दूक के सामने यह जोश कब तक खड़ा रह सकेगा ?'

'इसका बड़ा अच्छा जवाब 'रामचरित मानस' में है। विभीषण को यही शंका हुई थी—जब रावण के सामने रण-रंग में राम जा डटे थे। रावण रथारूढ़ था और दिव्यास्त्रों से सज्जित था। इधर राम पाँव-पयादे सीना तान कर खड़े थे। देखकर विभीषण ने आखिर पूछ ही तो दिया :

"नाथ न रथ नहि तन पद त्राना।
केहि बिधि जितब बीर बलवाना ॥"

'महाराज—न रथ है आपके पास और न हाथ-पाँव की रक्षा का ही कोई उपाय है। इस प्रकार साधन-शून्य होकर उस बलवान वीर को आप कैसे जीत सकेंगे ?'

उसके अज्ञान, अहंकार और ममत्व को देखकर मनस्वी राम मन ही मन मुसकुराए—और, फिर मर्म-मधुर शब्दों में उन्होंने जो कहा—विश्व-वन्द्य वीरों के लिए स्वर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य है।

उस समय के रण-रथ आज के टैंकों से भी बढ़े-चढ़े होते थे। रावण उसी रथ पर चढ़कर आया था। दिग्विजयी वीर तो वह था ही। इधर विभीषण की ममता राम पर थी, लेकिन इन्हें इन साधनों की कोई चिन्ता सता नहीं रही थी। जरा भी विचलित हुए बगैर राम ने कहा :

"जेहि जय होइ सो स्यंदन आना।"

जिस रथ से विजय होती है, राम की दृष्टि में वह रथ दूसरे प्रकार का होता है। उस रथ में शौर्य और धैर्य ही चक्के होते हैं, सत्य और शील ही ध्वजा-पताका की तरह उड़ते रहते हैं, स्वस्थ तन-मन से जो वह परोपकार करता है—वे ही उस रथ को खींचने वाले घोड़े है। ईश्वर का भजन ही सुजान सारथी होता है उस रथ का। अस्त्र-शस्त्र भी बाहरी नहीं होते :

"अमल अचल मन त्रोन समाना।
सम जम नियम सिलीमुख नाना॥"

जिस वीर का मन अचल और अमल है, वही तरकश के समान है—और, जैसे तरकस में नाना प्रकार के तीर रहते हैं. शम-यम-नियम भी युद्ध-जय में वही काम करते हैं। और कवच की आवश्यकता तो उसी को होती है—जिसके मन में अपने से बड़े और ज्ञानी गुरुजनों के प्रति श्रद्धा-भक्ति के भाव न हों। अन्त में राम ने सगर्व कहा :

"महा अजय संसार रिपु जीति सकइ सो बीर।
जाकें अस रथ होइ दृढ़ सुनहु सखा मतिधीर॥"

'वास्तविक वीर तो वही है—जो उस अजय शत्रु को जीते; और, वह जीत तो धर्म-रथ से ही हो सकती है—वह रथ जो रावण के पास है, उससे तो वह रिपु कदापि नहीं जीता जा सकता है !'—

'मामी, राम में अपने चरित्र का गर्व था—और, रावण को अपने रथ-गज का अहंकार था। चरित्र का तो पुरातन चोर वह था ही—इसी लिए अपार बाह्य-बल के रहते भी राम से उसे हारना पड़ा था। 'तपोधन' ने आज राम का वही चरित्र-बल इस राष्ट्र को दिया है—इस बल के सामने दूसरा कोई बल टिक नहीं सकेगा।—मामी, यह राष्ट्र अब शीघ्र स्वतंत्र हो जाएगा।'

'राम का वह चरित्र कितने लोगों में तुम्हें दीख पड़ता है ?—'तपोधन' अकेले क्या कर लेंगे—एक चने से क्या भाड़ फूटेगा ?'

'बुराई की तरह गुण भी संक्रामक होता है, मामी—देखती नहीं, दूध की तरह धवल चाँदनी जंगल-पहाड़ को कितना मनोहर बना देती है !—'तपोधन' का तेज आज वही जादू कर रहा है जन-मन पर ! आग जैसे कोयले का कालापन दूर कर देती है, 'तपोधन' का तप-त्याग भी, मामी—आज बड़े-बड़े भोग-विलासियों को फकीर बनाता चला जा रहा है !'

'लेकिन, बेटी, आग का संग छूटते ही कोयला जैसे और भी बदतर बन जाता है, 'तपोधन' के हटते ही कहीं इस देश का भी वही हाल न हो जाए ! चरित्र अन्दर की दीर्घ-साधना के बाद पैदा होता है—छू-छाकर जो रंग चढ़ता है, वह ज्यादा देर नहीं टिकता, बेटी। विदेशियों की बुराइयों पर अभी हमारी

नजर है जरूर, परन्तु उनमें चरित्र की जो दृढ़ता है, उससे हम दूर-दूर ही दीख पड़ते हैं। इसके साथ उनमें जो बुद्धि-कौशल है, वह कहाँ है हम में, बेटी ?—देखती नहीं, इस देश को उन्होंने भेद-भाव के कितने भागों में बाँट दिया है !... एक ओर हिन्दू-मुसलमान, दूसरी ओर मजदूर-किसान; कहीं सिक्ख-क्रिस्तान, तो कहीं ब्राह्मण-अब्राह्मण !—गुलामी तक भले ही यह जोश ठहरे, परन्तु स्वतंत्र होने पर तो शायद ही यह देश सम्हल सकेगा; क्योंकि, गुलामी की दबी भूख आजाद होते ही सौ गुनी बढ़ जाएगी—और, सैकड़ों साल से पत्तल चाटने वाला यह क्षुद्र देश आपस में ही ऐसा उलझेगा, कि देखते बनेगा ! विदेशियों-सा आत्माभिमान, शिक्षा-दीक्षा, शासन-अनुशासन, शरीर और मन कहाँ प्राप्त कर सका है तुम्हारा यह विशाल देश !— और यह गुण एक दिन, एक मास या एक साल में प्राप्त नहीं होता, बेटी—इसके लिए पीढ़ी-की-पीढ़ियाँ मिटती हैं, तब कहीं चरित्र का वह वरदान मिलता है किसी राष्ट्र को। हमको तो डर लगता है—'तपोधन' की सारी साधना ही कहीं व्यर्थ न बन जाए उतावली के इस आँधी तूफान में !'

'नहीं, मामी—चरित्र कुम्हार की चाक पर गढ़ा नहीं जाता है; बालक की भाँति गिर-गिरकर ही कोई राष्ट्र भी मजबूत होता है। यह जगा देश क्या फिर कभी सो सकता है—मामी ?'

'बुरा न मानना, बेटी—यह जगना नींद में चिल्लाने के समान जान पड़ता है। लगता है—'तपोधन' के तेज ने हमें असमय ही जगा दिया है। डर है, जोश की यह लहर लौटकर कहीं घर को ही न डुबा दे।—तुम्हीं कहो, यह 'मिनिया'—जो तुम दोनों के लिए यों पागल है, क्या तुम्हारी हालत में आ जाने पर, अपने कृत्यों पर लज्जित नहीं होगी ?'

'ठीक ही तो कहती हो, मामी—एक 'मिनिया' ही क्या, हमारा सारा समाज ही तो सदियों से नींद में बेखबर पड़ा हुआ है। 'तपोधन' का सारा प्रयास इस नींद को तोड़ कर नए सिरे से समाज का संगठन करना है—जिसका आधार केवल विशुद्ध मानवता है।'

'लेकिन जो वंश-परंपरा से समाज का शोषण करता आ रहा है, क्या वह इतनी आसानी से अपना संस्कार बदल देगा, बेटी ?—और, यह संस्कार

दोनों छोरों को कसकर पकड़े हुए है। शोषक की तरह शोषित भी तो उसी अनजान अवस्था में पड़ा हुआ है—'मिनिया' उसका प्रतीक मात्र है। तुम्हीं कहो न— जबतक वह तुम दोनों से कुछ नहीं चाहती है, तब तक तो वह देवता ही मानी जाएगी; परन्तु, अगर जगकर एक दिन वही 'तरुण' की बगल में बैठ जाए, तब तुम उसे किस दृष्टि से देखोगी—बेटी ?'

'रमा' को सहसा कोई उत्तर न सूझा और अपने संस्कार को तौलने लग गई—सचमुच तब क्या होगा ?...अरे, तब तो सारा खेल ही बिगड़ जाएगा—जैसे शूर्पणखा को देखकर पंचवटी में सीता का स्वप्न बिखर गया था !...

बहुत देर के बाद 'रमा' बोली :

'मामी, तुमने तो ऐसा प्रश्न कर दिया है—जो मेरी ही दुनिया को नहीं, मानव की कल्पना को भी हिला देता है ! शोषक और शोषित का भेद कभी मिट सकता है—मेरे ध्यान में अभी नहीं आ रहा है।.. मैं उस दृष्टि से सोचना भी नहीं चाहती, मामी। कोने से झाँक-झाँककर भूत हमें धक्का देता है और भविष्य भरमाता है—केवल वर्तमान ही सच्चा सखा जान पड़ता है। 'तपोधन' ने इसी लिए आवाज बुलन्द की है—हमें अराजकता पसन्द है, परन्तु यह वर्तमान शासन सह्य नहीं है। पहले इसे तो उखाड़ फेंको—फिर पीछे देखा जाएगा। पीछे के लिए ही 'रामचरित मानस' हमारा आधार होगा, जो हमारे सामने सदा उस आदर्श को प्रज्वलित रखेगा :

"कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥"

मामी अचरज से 'रमा' का मुँह देखती रह गई !

—::०::—

मिनिया मुसकुराई

गवाही देकर गिरिनन्दिनी जो गायब हुई, तो घर में मरघट वाली मुर्दनी छा गई। बूढ़ी माँ का जो हाल हुआ, वह तो सब पर प्रकट था ही; परन्तु नागम्मा की परेशानी शायद परमेश्वर भी नहीं जान सकते थे। अब तो वही सर्व-सर्वा थी—इससे जहाँ उसे अधिक खुश रहना चाहिए, वहाँ वह अन्दर-अन्दर मर्माहत रहने लगी थी। विचित्र बात तो यह थी—कि अब 'रमण' इतना ऊधमी हो चला था, कि बूढ़ी के सिवा उसे कोई भी सम्हाल नहीं पाता था। डाक्टर का तो आना-जाना ही उसने दुश्वार कर दिया—और, नागम्मा को ऐसा नोचने-बकोटने लगा, जैसे वह उसकी जानी दुश्मन रहे! बस—बेचारी के हाथ का तोता ही उड़ने लग गया!

रट एक ही थी उसकी—पिन्नी, मिनिया और मामा! उसकी वह रट सुनते ही बूढ़ी की आँखों से झर-झर आँसू गिरने लग जाते थे और वह दौड़-कर उसे गोद में उठा लेती थी। सिसकते-सिसकते बालक उसी की गोद में सो जाता था। रात को भी जब कभी उसकी नींद टूटती—और, टो-टा कर पह-चानता, तो उठकर भाग खड़ा होता था नागम्मा के पास से। भूखे-प्यासे रह जाता था, पर नागम्मा के हाथ से पानी भी नहीं पीता था!

उधर 'मिनिया' का बाप अलग परेशान था; क्योंकि, बेटी का ससुर बिदागरी चाहता था—और, बेतरह बिगड़ा हुआ था उसके ऊपर!

और, 'मिनिया' लापता थी!

ऐसे ही समय एक दिन पुलिस-अफसर आया और 'गिरि' के पिता को अपनी गाड़ी पर चढ़ा कर जाने कहाँ ले गया। 'रमण' चिल्लाता हुआ दौड़ा, मगर नागम्मा उसको जबर्दस्ती पकड़ कर ले आई घर में। लेकिन वह जमीन पर लोट-पोट होने लगा—'मैं भी जाऊँगा जेल!'

उधर जब 'मिनिया' के पीछे-पीछे बच्चे को गोद में लिए हुए 'अंबुजा' भी जेल पहुँची, तब दूर से ही देखकर रमा' दौड़ी उसकी ओर—लेकिन, जब परिचय पाया, तब एकाएक यों सकपका गई, जैसे कोई गलितांगिनी सामने आ गई हो !...

'अंबुजा' का बच्चा मचल रहा था 'रमा' की गोद में जाने को, परन्तु वह जाने क्यों—पीछे हटती जान पड़ती थी !...

'मिनिया' से यह देखा नहीं गया—और, वह 'अंबुजा' की गोद से बच्चे को लेकर उछलती-उछालती आई—और, 'गिरि' की गोद में रखकर बोली :

'देखो, देखो—कैसा प्यारा है—यह बच्चा !'

'रमा' अपनी उपेक्षा पर चौंकी—और, फिर सहज अनुराग से उमड़कर बच्चे को छाती से लगा लिया। सहसा उसके कण्ठ से निकल पड़ा—'कण्णा' !

'अण्णा' और 'कण्णा' का अद्‌भुत मेल देखकर ''अंबुजा' फूली न समाई—और, सहसा 'रमा' के गले में बाँहें डालकर बोली :

'हम से घृणा नहीं होती है, बहन ?'

चोर जैसे सेंध पर पकड़ जाए—'रमा' की भी वही हालत हो गई। घृणा तो जम कर बैठी ही थी उनके मन में—इन लोगों के प्रति ! अपनी क्षुद्रता पर वह लज्जित हो उठी। बड़प्पन का भाव तो खिसक ही रहा था उसके अन्दर से; फिर जैसे ही उसने 'अंबुजा' को देखा, उसके सहज शील और सौन्दर्य पर उसकी दृष्टि पड़ी, उसकी प्रसन्नता को पहचाना—वैसे ही वह पानी-पानी हो गई। उसकी मज्जा-गत घृणा पहले उसके सहज सौजन्य में जा छिपी थी, लेकिन शिशु के किलकते मुख, उसकी चंचल चितवन और उसके मुक्त ममत्व ने सचमुच उसके हृदय को भी मुक्त कर दिया—निरभ्र नीले नभ की नाईं।

'कण्णा' को दुलराती-हलराती पुलकित कण्ठ से वह बोली :

'जिसकी गोद में ऐसा दिव्य लाल खेलता हो, उसके सौभाग्य पर तो संसार को ईर्ष्या होगी ही !'

'अंबुजा' कुछ क्षण अपने और 'रमा' को तौलती रही सौभाग्य की तुला पर—कौन भारी है ?...फिर उमड़ कर बोली :

'लगता है, हम लोग 'तरुण' की कुटिया में ही पहुँच गए हैं !...'

'कुटिया' के नाम से सहसा 'रमा' के मुख का रंग उड़ गया—जैसे भागती गाड़ी में 'वैकुम ब्रेक' लग जाए। गंभीर मुख और शून्य दृष्टि से वह बच्चे को देखती रह गई !

'अंबुजा' को परिस्थिति की पहचान शीघ्र हो गई—और, वह बात बदल कर बोली :

'बहन जी, आप तो बहुत पढ़ी-लिखी हैं—जरा इस मूढ़ की एक शंका दूर कर दीजिए न।...आज एक ओर जहाँ 'विश्व-मानव-परिवार' का स्वप्न देखा जा रहा है, वहाँ दूसरी ओर 'स्वदेशी-विदेशी' का यह संग्राम भी छिड़ रहा है !... क्या मानव कभी देश-भेद, वर्ग-भेद और रंग-भेद से ऊपर नहीं उठ सकता है, बहन जी ?'

प्रश्न सुनकर 'रमा' कुछ क्षण 'अंबुजा' को गौर से देखती रही—जैसे थाह ले रही हो। फिर सहज सौहार्द से कहने लगी :

'पहले तो हम इस 'जी' और 'आप' का बहिष्कार करें—और, निखालिस 'बहन' बन जाएँ; फिर विचारों का आदान-प्रदान प्रारंभ हो।...बड़ा ही जटिल प्रश्न है यह। नारी को सती होना है और साथ ही परिवार को भी प्यार करना है ! कितना कठिन काम है, मगर हम रात-दिन यही करते भी रहते हैं—जाने या अनजाने !...'स्व' को न छोड़ा, न भुलाया ही जा सकता है, लेकिन उसका संस्कार करके 'विश्व' में अवश्य बदला जा सकता है। 'तपोधन' ने यही सन्देश दिया है इस स्वार्थान्ध युग को।'

'अंबुजा' ने मुसकुरा कर कहा :

'सुनने में तो बड़ा अच्छा लगता है, बहन—परन्तु 'विदेशी माल का बहिष्कार करो' और 'भारत छोड़ो' का नारा क्या हमारे 'स्व' का संस्कार करेगा ?...हम तो स्पष्ट देख रहे हैं—कि गोरों का मुँह देखते ही हमारा पारा चढ़ जाता है ! फिर यह रंग-भेद कैसे मिटेगा, बहन ?...और जब तक यह रंग-भेद रहेगा, धर्म और जाति-भेद भी रहेगा, स्वदेश और विदेश का झगड़ा भी खतम न होगा।'

'रमा' ने हलकेपन के साथ कहा :

'रंग और भेद—दोनों प्रकृति की देन हैं। सृष्टि में जहाँ देखो—रंग

और भेद हँसते दीखते हैं। लेकिन मननशील मानव ने निसर्ग की नकल न करके 'संस्कार' को खोज निकाला—जो दूसरा जन्म देता है। रंग को लेकर रंगसाजी करना एक बात है—और, मूल के बीज को पनपाकर उसका 'संस्कार' करना दूसरी बात है। रंगसाजी में कृत्रिमता की करामात होती है—और, 'संस्कार' में मौलिकता है—मूल की आत्मा का विकास है। विविधता और विचित्रता के भीतर से जो सयानी इस मौलिक एकता को ढूँढ़ पाती है, वही नारी—परिवार में घिरी रहकर भी—'सती' और 'पतिव्रता' की संज्ञा प्राप्त करती है। उसी तरह स्वदेश के प्रति ममत्व की भावना रखकर ही इस विशाल विश्व को भी अपना कुटुम्ब बनाया जा सकता है।

तुलसीदास के 'मानस' में इस मूल-ग्राही अनन्यता का अद्भुत पथ प्रशस्त किया गया है। 'तपोधन' ने इसी लिए 'मानस' को कसकर पकड़ा—और, उसे अपने मानस का प्रदीप ही बना लिया है। मनुष्य के मन का परिष्कार करके वह 'मानस' उसमें ऐसा संस्कार भरता है—जो चर-अचर की विराट् विषमता के ऊपर पूर्ण-चन्द्र की अग-जग-व्यापिनी धवल चन्द्रिका की तरह शालीनता को फैला देता है। तुलसी का 'स्व' जब अपने अनन्य 'राम' को ढूँढ़ने चला, तब वह ऐसा परिष्कृत हुआ, ऐसा सुसंस्कृत और शालीन बना—कि विस्मय-विमुग्ध होकर वह चिल्ला उठा :

"सिया राम मय सब जग जानी।
करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥"

वह तोड़ना नहीं, जोड़ना जानता है, बन्धनों की विषमता से घबराकर वह भागता नहीं, बल्कि उसके अन्दर ऐसा घुलता है—कि विष भी अमृत में बदल जाता है!'

'अंबुजा' ने मुँह बिचका कर कहा :

'अभी तो तोड़ना ही परम धर्म हो गया है, विष ही भोज्य बन गया है, बहन—अमृत और नमन की बात छोड़ो अभी!...

एक बात और है, बहन—'तपोधन' अगर हमारे प्राचीन रत्न 'तिरुक्कुरल' 'कम्ब रामायण'; 'रंगनाथ रामायण', 'पंप रामायण' और 'अध्यात्म रामायण' को देख पाते, तो 'मानस' का इतना गौरव-गान नहीं करते!...इसमें

आश्चर्य नहीं—कि घर की चीजों से होटल की चीजें हमें कुछ अच्छी लगें। कालीदास के सामने शेक्सपियर जो हमें प्रिय लगते हैं, इसमें केवल रुचि और स्वाद का ही अन्तर नहीं है—संस्कार भी कारण-भूत हो जाता है। तुमने, बहन, 'मानस' में खूब गोते लगाए हैं—देखकर प्रसन्नता होती है। आशा है, अब अपने घर की ओर भी दृष्टिपात करोगी !'

'रमा' 'अंबुजा' की प्रगलभता पर अचरज करती कुण्ठा के स्वर में बोली:

'सच कहती हो, बहन—इसे अज्ञान का वरदान ही समझो, कि जो जितना जानता है, उसी को सर्वश्रेष्ठ घोषित करने लग जाता है !...बहन, कवि का भावाकाश यद्यपि मुक्त होता है, परन्तु पाँव तो उसके स्थल-विशेष पर ही रहते हैं—और, उसके वे पद-चिह्न अगर व्यक्ति-विशेष को विशेष आकृष्ट करते हैं, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं।...आश्चर्य तो तब होता है, जब उन चिह्नों के बाहर देखने से कोई हठ-पूर्वक इनकार कर दे !...अब तुम्हीं कहो, बहन—जो कवि वाणी के प्रति इतना सतर्क है, इतना संभ्रम और समर्पित है, उसकी ओर कोई क्यों न आकृष्ट होगा :

"सारद दारु - नारि सम स्वामी।
राम सूत्र - धर अंतर - जामी॥
जेहि पर कृपा करहिं जन जानी।
कवि उर अजिर नचावहिं बानी॥"

अंबुजा ने उत्सुक होकर पूछा :

'तुम तो घूम-फिर कर वहीं पहुँच जाती हो। मैं तो समझ न सकी कुछ—जरा समझा दो न, बहन !'

'जीभ से निकलने वाली बोली को कवि पहले शारदा की संज्ञा देता है, फिर उसे कठपुतली बनाकर अन्तर्यामी राम के हाथ में सौंप देता है। अब जिसको वह अन्तर्यामी अपना जन समझता है, उसके उर-आँगन में कृपा-पूर्वक उस कठपुतली को नचाता है !...कहो, बहन—वाणी का कैसा दिव्य रूप देख पाती हो ?'

अंबुजा ने सिर खुजलाते कहा :

'जरा सोचने-समझने दो मुझे, बहन—कैसी अद्भुत झाँकी है आदमी की बोली की, जिसे रात-दिन हम पतंग की तरह उड़ाते रहते हैं गली-कूचों और गाली-गलौज में !...'

'रमा ने कुछ उन्मुक्त होकर कहा :

'हजारों साल के बाद यह आसेतु-हिमाचल अपनी पुरानी राष्ट्रीयता को पहचान कर गरज उठा है, बहन—छोटे-छोटे घरौंदों में अभी कोई इसे न बाँधे—यही आकुल कामना है मेरी !...बहन, जिस दूर-दर्शी ने इस भू-भाग को 'आसेतु-हिमचल' की संज्ञा दी—वह कितना बड़ा देशभक्त होगा। और, कल्पना तो करो, बहन—जिसने अपनी जन्म-भूमि को 'जननी' के पद पर बिठाया—और, उसे स्वर्ग से भी श्रेष्ठ समझा—उसकी दृष्टि में इस मिट्टी का ममत्व और महत्व कितना ऊँचा होगा !...सबसे पहले विराट् बाल्मीकि ने राम में सागर की गंभीरता और हिमालय की धीरता के दर्शन किए—और, उन्हें हिम-शिखर से उतार कर सागर तक की भूमि के प्रेम-पाश में बाँधा ! भारतीय एकता की बुनियाद वहीं मजबूत हुई। फिर शंकराचार्य ने तो चार धामों की स्थापना करके उस बुनियाद पर आलीशान भवन ही खड़े कर दिए राष्ट्र-पूजा के—जहाँ कोने-कोने से तीर्थ-यात्री जमा होते हैं और मिट्टी में लोटकर मोक्ष की कामना करते हैं !... बहन, हमारी राष्ट्रीयता का वटवृक्ष इन्हीं तीर्थ-सलिल से सींचा गया है। हमारे मनीषियों ने जिस दिव्य दृष्टि से इस देश की चप्पे-चप्पे जमीन को देखा है, वैसा सौभाग्य धरती के किस हिस्से को प्राप्त है ?...बहन, यह भव्य भूगोल हमें जोड़ता है, लेकिन राजनीति का इतिहास हमें तोड़ता रहा है। 'तपोधन' ने हमारे इतिहास और भूगोल की तह में जाकर ही आज 'तोड़-फोड़' का नारा लगाया है। आओ, बहन—इस शुभ वेला में हम अन्ध-घरौंदों को तोड़कर राष्ट्रीयता के रंग में रँग जाएँ !'

'अंबुजा' ने विस्मय से देख कर पूछा :

'घरौंदे तोड़ने की बात नहीं समझ रही हूँ—क्या हम अपने प्राचीन गौरव को भूल जाएँ ?'

'भूलने की बात कहाँ उठती है, बहन—जब हम अपने को सारे राष्ट्र में मिला देते हैं ! राष्ट्र की सारी अच्छी चीजें हमारी हैं—और, हमारे गर्व-गौरव को बढ़ाने वाली हैं। भिन्नत्व में एकत्व का पुनीत दर्शन—राष्ट्रीयता की यही माँग है, बहन। माता की पुकार बेटी जिस ममता और आतुरता से सुन सकती हैं, उसकी अनुभूति ही हमें जेल तक ले आई है...'

बीच में ही 'अंबुजा' बोल उठी है :

'मैं तो सोच रही थी—तुम जीवन से ऊबकर यहाँ आई हो, बहन !'

'जीवन से ऊबती, तो जेल में न आती; और, न झंडा ही उठाती—आँखें मूँद कर सागर में ही न कूद पड़ती, बहन !'

'यह तीर्थ तुम्हें इतना क्यों प्यारा है, बहन !'

'यह तीर्थ नारी की आत्म-शक्ति का अमर जय-गान करता है और सागर से उठकर कैलास को पुकारता रहता है। जिस पार्वती ने कैलास की चोटी पर खड़ी होकर शिव के लिए कठोर तपस्या की थी, उसकी ही प्रतिध्वनि यहाँ तक पहुँची है, बहन—कैलास से लेकर कन्याकुमारी तक की आत्मा शिवोपासक है ! शिव—अर्थात् शुभ—सब जीवों की कल्याण-कामना ! 'मानस'-स्रष्टा ने तो शिव को 'विश्वास' और भवानी को 'श्रद्धा' के रूप में देखा है—जिनके बिना अन्तरस्थ ईश्वर का दर्शन योगी-यती के लिए भी असंभव हो जाता है, बहन ! दूर-दूर के यात्री यहाँ आते रहते हैं—काश, 'मानस' की तरह कोई इसका भी यशोगान करता ! :—'

'अंबुजा' हँस पड़ी :

'घूम-फिर कर तुम फिर 'मानस' पर आ गई, बहन ! लगता है—'मानस' तुम्हारे मानस में बस गया है। तो फिर एक क्लास क्यों न खोल देती हो यहाँ 'मानस' का—कितना लाभ मिलेगा हम मूढ़ों को !'

'बहन, 'मानस' जिस दिन मेरे 'मानस' में बस जाएगा, उस दिन मैं मुक्तात्मा हो जाऊँगी। अभी तो उसकी एक ही पंक्ति हमें याद रखनी है :

"पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।'

६

जेलर के आफिस में नागम्मा और बालक 'रमण' 'गिरि' की प्रतीक्षा कर

रहे थे। किसी से मिलने की इच्छा न होने पर भी 'गिरि' को वहाँ जाना पड़ा। दूर से ही देखकर 'रमण' दौड़ा—और, उछल कर उसकी गोद में चढ़ गया। जिस वेश में वह थी, जल्दी कोई पहचान नहीं पाता। लेकिन 'रमण' ने उसका मुँह पकड़ा और आँखों में आँख डालकर बोला :

'मैं तुम्हारे पास ही रहूँगा, पिन्नी—घर में अम्माँ नहीं, मिनिया नहीं, मामा नही, नाना नहीं—कोई नहीं...मामा कहाँ—पिन्नी ?'

नागम्मा ने आँसू चुआते कहा :

'गिरि—मैं बहुत लज्जित हूँ...मुझे माफ कर दे—यह लड़का मुझे जीने नहीं देगा; रात-दिन नोचता बकोटता रहता है—'पिन्नी को, मामा को, मिनिया को तूने ही भगा दिया है—मैं तुम्हारे पास नहीं रहूँगा—ले चल मुझे पिन्नी के पास...'—जेल से पिताजी का भी पत्र आया है। बहुत पछता रहे हैं। 'तपोधन' ने भी उन्हें बहुत फटकारा है—और अम्माँ...'

कहते-कहते नागम्मा रुक गई और सिसकने लगी। 'गिरि' ने घबराकर पूछा :

'चुप क्यों हो गई—अम्माँ की बात पूरी कर दो न ?'

नागम्मा ने मुँह लटका लिया—और, हिचकी ले-ले कर कहा :

'अम्माँ की बात अब क्या पूछती हो ?...तुम्हारे जाते ही उसने खाना-पीना छोड़ दिया, बोलना-चालना छोड़ दिया—और, मुँह लपेट कर जो खाट पर गिरी, फिर नहीं उठी !'

'अम्माँ चली गई—अरे, मैं कैसी अभागिनी हुई—अन्तिम समय उसकी कोई सेवा न कर सकी...'

नागम्मा ने आँचल से आँसू पोंछते कहा :

'उसी दुर्दिन में सेंध काट कर चोर घुस आए—और, घर में जो माल-मता मिला, सब उठा ले गए; रसोई-पानी के बर्तन-भाँड़े भी नहीं छोड़े !... सुनते हैं, उस चोरी में 'मिनिया' के ससुराल वालों का हाथ है—और, डाक्टर उन्हें भड़का रहा है...'

'डाक्टर...कौन ?'

'और कौन—वही जो, तुम पर...'

'गिरि' ने अत्यन्त चकित होकर कहा :

'वह तो तुम लोगों का परम भक्त था...'

नागम्मा ने झेंपकर कहा :

'भक्त था तुम्हारे रूप का और पिताजी के रुपए का...जैसे ही तुम गायब हुई, वह भी लापता हो गया !...घर में कोई नहीं था—और, मैं घोर अन्धकार में डूब रही थी—कि वह आकर खड़ा हो गया—जाने कैसे...'

'कौन—वही—डाक्टर...?'

'नहीं,—उस लफंगे का क्या नाम लेती हो...भगवान् का भेजा आ गया वह—जो हमेशा हमारे दुःख-दर्द में साथ रहता आया...'

'कौन—जीजी ?'

'और कौन—जानकर भी अनजान बनती हो...अरे, वह नहीं आ गया होता, तो भगवान् ही जाने हमारी क्या हालत हुई होती—उसको देखते ही मेरी आँखों में ज्योति-सी जग गई !'

'गिरि' ने धीरे से कहा :

'उसको तो तुम लफंगा कहती थी न...?'

'इसी लिए तो छोटी बहन से हाथ जोड़कर माफी माँगने आई हूँ।... गिरि, हम पर 'मिनियां' को भगाने का भी आरोप लगाया गया है—और, डाक्टर उस सारे समाज को हमारे विरुद्ध खड़ा कर रहा है। खेती-बारी सब ठप पड़ी हुई है—कोई मजदूर काम करने को तैयार नहीं हो रहा है।...'मिनिया' का बाप लाज और डर के मारे घर से निकलता नहीं है !'

'क्या करना चाहती हो ?'

'आँख वाला डाक्टर जोर डाल रहा है कि तुम दोनों को जमानत पर छुड़ा लिया जाए—जिससे हो-हल्ला शान्त हो जाए; लेकिन—वह राजी न हो रहा है।'

'वह—कौन ?'

'वही—'तरुण'...'

'क्या कहता है वह ?'

'जमानत पर नहीं...'

'ठीक ही तो कहता है--जमानत पर कोई नहीं छूटेगा; जो होना हो--होगा।...तुम 'रमण' को लेकर ससुराल चली जाओ, जीजी।'

'मैं तो 'बुद्धिमती' के कहने पर 'आरती-दल' में शामिल हो गई हूँ--'रमण' को हमारे डाक्टर अपने जिम्मे ले रहे हैं।'

'गिरि' ने कुछ विस्मय के साथ पूछा :

'और—यह 'आरती-दल' क्या है, जीजी ?'

नागम्मा पुलकित होती बोली :

'बुद्धिमती की कोई सहेली है 'आरती'—जो पहनती तो है साड़ी-चोली ही, मगर रूप-रंग में बिल्कुल विलायती लगती है— एकदम अंगार-सी दहकती ! बड़ी जीवट वाली, बड़ी मिलनसार, बड़ी मिठ-बोलिया—पहली भेंट में ही जादू डाल देती है ! और, जब लेक्चर देने लगती है, तब तो आग ही उगलती है !... 'बुद्धिमती' तो उसको अपनी ननद ही मानती है और छाया बनी डोलती रहती है उसके साथ।...बंबई के किसी बहुत बड़े सेठ की नई-नवेली थी—और, भोग-विलास में डूबी रहती थी। मगर अब 'तपोधन' के पास पहुँच गई है—और, तप-त्याग, उमंग-तरंग, तोड़-फोड़ की मूर्ति ही बन गई है !...'बुद्धिमती' का कहना है, कि यह सब काया-पलट 'आत्मीय' के संसर्ग का प्रभाव है। लेकिन न 'आरती' कभी उसका नाम लेती है, न 'आत्मीय' ही कभी उसके-दल के पास फटकता है !...जो भी हो, 'आरती-दल' इस समय देश में दावाग्नि बन रहा है !...अपने पापों के प्रायश्चित का सबसे सुगम उपाय यही देखकर मैं भी उस दल में शामिल हो गई हूँ—अब जो होना हो, हो...!'

'गिरि' की छाती फूल उठी और आँखों में जाने कैसे आँसू छलछला आए। वह गहरी साँस छोड़कर बोली :

'अब तुम मेरी असली जीजी हुई—और, पिताजी की खिसकती प्रतिष्ठा को तुमने ऊँचा उठा दिया ! आओ, तुम्हारी चरण-धूलि लेकर मैं धन्य बनूँ...पहले लगता था—जैसे मेरी एक आँख फूट गई हो; लेकिन अब दोनों लोचनों में ज्योति-राशि उमड़ रही है !...जाए—घर-द्वार, जाए—खेती-पथार, जाए—जेवर-जेवरात ! सब कुछ चला जाए; पर कुल की मान-प्रतिष्ठा तो रह जाए !...जीजी—बार-बार तो आदमी नहीं आता है माता की कोख में !...जाओ, जीजी—'आरती' बहन से मेरा

शत-शत वन्दन कहो। माता की पुकार पुत्री ही सुन सकती है!—एक दिन अकेली सीता ने देश की वह पुकार सुनी थी—और, दस-सिर तथा बीस-बाहु के सामने भी नत-मस्तक न हो सकी! उसके तेज और प्रताप की ज्वाला में सारी लंका जलकर खाक हो गई!...'आरती-दल' देश में वही आग लगा दे, जीजी—जिससे सदियों की हमारी गुलामी भी जल कर खाक हो जाए!'

कहकर 'गिरि' ने जब 'रमण' को अपनी गोद से उतारना चाहा, तब वह ऐसा मचला-उछला, ऐसा लिपटा-चिपका—कि उससे पिंड छुड़ाना मुश्किल हो गया 'गिरि' को!

उसी ऐंठ-जूठ में बालक की जेब से कागज का एक छोटा टुकड़ा गिरा 'गिरि' की गोद में—जिसे नागम्मा ने उसके ब्लाउज में छिपा दिया; और, रोते बच्चे को जबर्दस्ती गोद में उठाकर वह बाहर चली गई।

'गिरि' लौटी। 'अंबुजा', 'मिनिया' और मामी ने उसे घेर लिया। मामी के हाथ में पुर्जी देकर 'गिरि' चुप बैठ गई। मामी ने पुर्जी को उलटा-पुलटा—और, जब कुछ नहीं समझ सकी, तब 'अंबुजा' के हाथ में रखकर वह बोली:

'तुम्हीं पढ़ो—यह तो ब्रह्मा की लिपि में लिखा हुआ है जान पड़ता है।'

'अंबुजा' ने खूब सिर मारा, लेकिन जब कुछ भी हाथ न लगा, तब माथा खुजला कर बोली:

'सोई जानै जेहि देहु जनाई!'

'गिरि' ने धीरे-धीरे पुर्जी पढ़ी:

'आज मुक्ति-दिवस है। जो जहाँ है—अपने को मुक्त समझे और दूसरे को मुक्त कर दे। रात के एक बजे पगली घंटी बजेगी—और, 'मिनिया' मशाल जलाए खड़ी रहेगी सदर फाटक पर सबके साथ—सावधान!'

सब ने अचरज से 'मिनिया' का मुँह देखा; और, वह अल्हड़—यों मुसकुरा उठी—जैसे एकदम भोली हो !...

घुप अँधेरी रात। अन्धकार ऐसा सघन—कि मुट्ठी में आ जाए। हाथ को हाथ न सूझे। फिर भी कई नीरव और निर्भीक पैर उठ रहे थे—हथेलियों पर जान उठाए !...

सहसा उधर पगली घंटी बजी—और, इधर गेट पर मशाल जल उठी 'मिनिया' के हाथ में ...

बस—एक ओर—'धरो-पकड़ो !'—तो दूसरी ओर—'मारो-भागो !'—का हो-हल्ला मच गया...

उसी समय, सारे हो-हल्ला को दबाता हुआ, जाने कहाँ से मृत्युंजय गान उठा—और, धरती, आकाश तथा सागर को गुँजाता दश-दिशा में लहराने लग गया :

"उठा चरण,
उड़ा गगन;
शैल - श्रृंग तोड़ गहन—
गरज - गरज—गरब - हरण !
उठा चरण,
उड़ा गगन !!"

सहसा कहीं से एक दूसरी मधुर-ध्वनि उठी—और, पहली से टकराती चली गई :

"मुक्त गगन,
मुक्त पवन;

मुक्त शैल - सिन्धु - भवन—
चल रे चल—मदन - दहन !"
मुक्त गगन,
मुक्त पवन !

जिसके गले में कुछ जोर और जोश था, जिसकी नसों में कुछ गर्मी थी और जिसके दिल-दिमाग में कुछ खुरापात भरी थी—इधर-उधर से कुछ मन-चलों को पकड़ा; और, अपना एक गिरोह बनाकर निकल पड़ा मुक्त-गान गाता।

गिरोह-पर-गिरोह निकल पड़ा था। चरण सबके जहाँ-तहाँ पड़ रहे थे, परन्तु कण्ठ का स्वर एक था और आँखों का लक्ष्य भी एक था—'उठा चरण—उड़ा गगन !'

यों चरण उठ रहे थे, गगन उड़ रहा था—कहीं जेल की दीवार टूट रही थी, कहीं थाना जल रहा था, कहीं रेल की पटरी उखड़ रही थी तो कहीं तार कट रहे थे।

गिरोह-के-गिरोह घूम रहे थे—जिन में चोर-डाकू भी थे, लुच्चे-लफंगे भी थे, गिरहकट-गुण्डे भी थे और भले-भोले भी थे।

'आरती' 'आत्मीयं' को देख रही थी, 'नागम्मा' 'शंकर' को पहचान रही थी, 'अंबुजा' अपने 'शराबी' की सूरत निहार रही थी,—और 'रमा' 'तरुण' पर दृष्टि दौड़ा रही थी, परन्तु सब-के-सब 'तपोधन' के तप-त्याग की तेज धारा में पड़कर सुरसरि-सम पावन बन रहे थे।

ऐसा ही एक गिरोह 'मिनिया' का भी चल रहा था। 'मिनिया' के हाथ में मशाल थी—जो अन्धकार-दानव की छाती में छेद करके ज्योति-जगत् में पहुँच जाना चाहती थी। उसके पीछे-पीछे चल रही थी ढुलमुल मामी—जो हाँफ रही थी, लेकिन जब 'अंबुजा' उसको सहारा देना चाहती, तो वह झल्ला उठती थी—'अपने 'कण्णा' को सम्हाल तू—मेरी फिक्र छोड़ दे !'

उसके पीछे 'रमा' का जागरण-गान झंकृत हो रहा था :

"जग रे जग — जगत् जगा !
सुप्त शैल - सिन्धु जगा,
कुप्त गर्व - गान जगा,
बन्द तोड़ छन्द जगा,
गन्ध - मुग्ध भृंग जगा,
तरुण अरुण देश जगा—
जग रे जग—जगत् जगा !"

हठात् एक गँवारों का गिरोह आया और 'मिनिया' को घेरकर उछलने लग गया। उस दल में 'मिनिया' के बाप और ससुर का समाज शामिल था—जिसका अगुआ था डाक्टर। 'मिनिया' ने मुसकुराकर सब को देखा और मुक्त-गान गाती वह आगे बढ़ गई।

'कन्याकुमारी' के मन्दिर में जो अनादि शिव-शक्ति बन्द थी—और, जिसको मुक्त करने के लिए चारों ओर से उमड़-उमड़ कर और सिर पटक-पटक कर वह सागर युग-युग से विफल प्रयत्न करता आ रहा था—'तपोधन' के मंत्र-पूत जन-प्रवाह के स्वराघात से वह शक्ति मन्दिर की चूड़ा तोड़कर निकल पड़ना चाहती थी।

'रमा' ने चौंक कर चूड़ा को देखा—और 'तरुण' का हाथ पकड़कर उन्मत्त-सी गाने लगगई :

"मुक्त पवन,
मुक्त गगन;
मुक्त शैल - सिन्धु - सदन !
चल रे चल—मदन - दहन !!
उठा चरण !
उड़ा गगन !!"

: विदा :